(समाचार पत्र-पंजीयक, भारत, नयी दिल्ली) पंजीयन संख्या आर० एम०—१३२४८६/७८

DEENDAYAL RESEARCH INSTITUTE'S

Latest Publication

"THE INDIAN SPIRIT"

by SHRI M.P. PANDIT

- A Book that gives an insight into the true Indian Spirit
- Covers series of five lectures delivered by Shri M.P. Pandit of Aurobindo Ashram, Pondicherry at the Deendayal Research Institute, New Delhi
- The subjects of the lectures are :-

1. Fundamentals of Indian Culture
2. India's Contribution to the World — Present & Future
3. Towards Socio-Political Reconstruction of India
4. The Time-Spirit
5. The Destiny of Man

- Price : Rs 12.00; $4.00; £ 2.00

SPECIAL DISCOUNT OFFER

- 20% discount on individual purchases plus free packing and postage
- 25% discount for Agents on purchase of five copies or more plus free packing and postage.

Place orders till offers open

For further details contact:

THE PUBLICATION DIVISION,
DEENDAYAL RESEARCH INSTITUTE,
7E, SWAMI RAMTIRTH NAGAR,
NEW DELHI-110055.

दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली-११००५५ के लिये पी० परमेश्वरन (निदेशक, दी० शो० सं०) द्वारा सम्पादित, प्रकाशित व मुद्रित। नवचेतन प्रेस (प्रा०) लि० द्वारा नवजीवन प्रिण्टर्स, 1 ई/2 झण्डेवालान एक्सटेंशन, नयी दिल्ली-११००५५में मुद्रित।

मंथन

अन्तर्गत

जयप्रकाश नारायण का रिक्थ

शिक्षा की बदलती अवधारणाएं

भारतीय संघ में राज्य-केन्द्र वित्तीय सम्बन्ध और वित्तीय स्वायत्तता

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन (४)

शुक्रनीति में मन्त्रिमण्डलीय व्यवस्था

आदि-आदि

दीनदयाल शोध संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष २ अंक ४ वैशाख विक्रमाब्द २०३७ (अप्रेल १९८०)

हमारे अन्य प्रकाशन

१.	पं० दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्ति दर्शन सं० कमलकिशोर गोयनका		१२.००
२.	तत्त्वविज्ञान (भारतीय तत्त्वज्ञान और आधुनिक विज्ञान: तुलनात्मक अध्ययन) डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल		१२.००
३.	गाँधी, लोहिया और दीनदयाल सं० डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल		२०.००
४.	एकात्म-दर्शन : पं० दीनदयाल उपाध्याय, गुरुजी और ठेंगड़ी जी		१२.००
५.	हटाओ एमरजेंसी (सं०) डा० एन० एम० घटाटे		१.५०
६.	पं० दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्तित्व एवं जीवन-दर्शन डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल		१.५०
7.	**Industrial India : A Blueprint for Tomorrow** G.M. Laud (Ed.)		50.00
8.	**Indo-Soviet Treaty : Reactions and Reflections** Dr N.M. Ghatate (Ed.)		15.00
9.	**Pandit Deendayal Upadhyaya : A Profile** Sudhakar Raje (Ed.)		12.00
10.	**Peoples' Participation** K.K. Das (Ex-Chief Secretary, U.P. Govt.)		2.00
11.	**Sri Aurobindo's Message for Today** Prize Winning Essays		3.50
12.	**Land Reforms : An Economist's Approach** Dr S. Swamy		2.00
13.	**Destination—Nation's Tribute to Pandit Deendayal Upadhyaya** Sudhakar Raje (Ed.)		20.00
14.	**Gandhi, Lohia & Deendayal** P. Parameswaran (Ed.)		10.00
15.	**The Integral Approach** Pt. Deendayal Upadhyaya, Guruji & Thengdi	Paperback Deluxe	5.00 12.00
16.	**The Indian Spirit** M.P. Pandit		12.00

दीनदयाल शोध संस्थान

७-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर,

नयी दिल्ली-११००५५

मंथन

दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली का त्रैमासिक पत्र

वर्ष २ अंक ४ वैशाख विक्रमाब्द २०३७ (अप्रेल १९८०)

निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः (श्रीमद्भागवत ८-६-२३)
निरालस्य होकर मंथन करो

विषयानुक्रमणिका

किसे चुनें ? ५

जयप्रकाश नारायण का रिक्थ (Legacy)
पी० परमेश्वरन ९

शिक्षा की बदलती अवधारणाएं
डा० आत्मानन्द मिश्र २१

भारतीय संघ में राज्य-केन्द्र वित्तीय सम्बन्ध और वित्तीय स्वायत्तता
डा० बाबूलाल फड़िया ३१

भारतीय जातीय समरसता
डा० श्याम बिहारी राय ४१

राष्ट्र बने परिवार
डा० चन्द्रकान्त भारद्वाज ४७

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन (४)
ओमप्रकाश एवं शीतलाप्रसाद ५३

शुक्रनीति में मन्त्रिमण्डलीय व्यवस्था
डा० पद्मनाभ शर्मा ६३

पुस्तक-समीक्षा ७६

वाम भक्ति ८, यक्ष की घड़ी २०, रूपानुशासन २०, विजय-संकल्प ३०, गणाचार ४०, शिव संकल्प ६२

सम्पादकीय परामर्श-परिषद्

डा० वी० एम० दाण्डेकर
डा० आर० आर० दिवाकर
डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी
डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा
डा० शिशिरकुमार घोष
श्री जैनेन्द्रकुमार
डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय
डा० आत्माराम
प्रो० खालिक अहमद निजामी
डा० दामोदरप्रसाद सिंहल
श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी
प्रो० के० आर० श्रीनिवास आयंगर
डा० एस० भगवन्तम

सम्पादक

श्री पी० परमेश्वरन — सम्पादक
डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल — संयुक्त सम्पादक

कार्यालय

दीनदयाल शोध संस्थान
७ ई, स्वामी रामतीर्थ नगर
नयी दिल्ली-११००५५

शुल्क

एक प्रति — रु० ५-००
वार्षिक :
भारत, पाकिस्तान, बंगला देश, श्रीलंका — रु० २०-००

एशिया, अफ्रीका एवं यूरोप
(वायु-मार्ग से) — £ ७-००

अमेरिका, कनाडा और द० अमेरिका
(वायु-मार्ग से) — $ १३.००

"सहिष्णुता के समान ही जयिष्णुता का सिद्धान्त भी आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि जयिष्णुता अधिक आवश्यक है तो अनुचित नहीं होगा। बिना जयिष्णुता की भावना के कोई समाज न तो जीवित ही रह सकता है और न वह अपने जीवन का विकास ही कर सकता है। कोई भी व्यक्ति अथवा समाज केवल श्वासोच्छ्वास के लिये जीवित नहीं रहता, अपितु वह किसी आदर्श के लिये जीवत रहता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उस आदर्श की रक्षा के लिये अपने जीवन की परिसमाप्ति भी कर देता है। आदर्शवादी व्यक्तियों ने ही सब प्रकार की कठिनाइयाँ झेलकर भी संसार को आगे बढ़ाया है। जिनके जीवन में अपने आदर्शों को विजयी बनाने की महत्वाकांक्षा है, वे ही संसार के निराशामय वातावरण से ऊपर उठकर कुछ कर पाते हैं तथा दूसरों के लिये प्रकाशपुंज बनकर मार्ग-दर्शक हो जाते हैं। संसार के नये-नये देशों की खोज करने वाले, प्रकृति के गुह्यतम सिद्धान्तों को ढूंढ निकालने वाले, ब्रह्म और जीव के अभेद का साक्षात्कार करने वाले, दुःखी मानवों को शान्ति और सत्य का उपदेश देने वाले, ये सबके सब अपने जीवन में एक महत्वाकांक्षा लेकर आये और उसे प्राप्त करने के निमित्त ही जीवन भर प्रयत्न करते रहे।

"भारतवर्ष ने इस विजिगीषु वृत्ति का महत्व सदा ही समझा है और इसीलिये विजयादशमी जैसे शक्ति-पूजा के त्यौहारों की योजना की गयी है। हम पराजय के लिये अथवा उदासीन बनकर केवल 'आहारनिद्राभयमैथुनं च' तक ही अपने जीवन को सीमित करने के लिये नहीं, अपितु विजय के लिये पैदा हुए हैं।

"विजय के लिये सीमोल्लंघन आवश्यक है। किन्तु आज हमने अपने जीवन की सीमाएं बना रखी हैं। स्वार्थ और अज्ञान की संकुचित परिधि में हमने कूपमण्डूक के समान अपने जीवन को सीमित कर दिया है। हमें अपनी सीमाएं तोड़नी होंगी। जो इन सीमाओं के बाहर नहीं जा सकता, वह विजय भी नहीं प्राप्त कर सकता। सीमोल्लंघन और विजय केवल सेना और शस्त्रास्त्रों से सज्ज होकर शत्रु के राज्य में कूच करके परास्त करने से ही नहीं होती, अपितु विचारों और भावनाओं के जगत् में भी हमारे अनेक शत्रु हैं जिनको पराजित कर हम अपनी विजय मना सकते हैं।"

— दीनदयाल उपाध्याय

★

किसे

किसे चुनें ?

महात्मा गांधी ने कहा था कि 'हिंसा और कायरता में से यदि एक को चुनना पड़ा तो में हिंसा को चुनूंगा'। इसी की देखादेखी करके आजकल कोई अनुचित प्रतीत होने वाला कार्य करते समय लोग कह देते हैं कि वे 'दो बुराइयों (दूषणों) में से छोटी बुराई को चुन रहे हैं।' वस्तुत: यह दृष्टिकोण ही त्रुटिपूर्ण है। आप बुराई (दूषण) चुनेंगे तो उससे बुराई ही मिलेगी। बबूल बोकर आम नहीं, कांटे ही मिलेंगे। आप छोटी बुराई भी चुनते हैं तो क्या हुआ ? आज जो छोटी है, कल बढ़कर बड़ी हो जायेगी।

अत: बड़ी हो या छोटी, बुराई का चयन कभी न करिए। दो बुराइयों में किसी का भी चयन क्यों करें ? आप केवल अच्छाई को चुनिए, चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो। हिंसा और कायरता में से किसी को भी चुनने की आवश्यकता नहीं है, आप वीरता को चुनिए। एक सच्चे वीर की भांति किया गया कार्य न हिंसा होगा, न कायरता। अच्छाई या बुराई कार्य के उद्देश्य और उसे करने के दृष्टिकोण पर निर्भर है। चिकित्सक की हितकर शल्य-क्रिया से यदि रोगी को पीड़ा होती है तो क्या वह रोगी के प्रति हिंसा है ? माता-पिता या गुरु अपने प्रिय पुत्र या शिष्य की हितकामना से सुविचार-पूर्वक उसकी कभी कुछ ताड़ना करें तो क्या वह हिंसा है ? वही प्रहार हिंसा है जो विवेकपूर्वक नहीं, विकार के वशीभूत होकर किया जाता है। विवेक-पूर्वक किसी आततायी के दुष्कर्म को रोकने के लिये उसपर प्रहार भी करना पड़े तो उसे वीरता माना जायेगा, हिंसा नहीं। अत: हिंसा और कायरता में से एक को अवश्य चुनने का प्रश्न ही नहीं उठता।

कभी-कभी एक ही कार्य को एक दृष्टिकोण से करने पर उसमें से बुराई और किसी अन्य दृष्टिकोण से करने पर अच्छाई भी प्रकट हो सकती है। उदाहरणार्थ —किसी आर्थिक कठिनाई में पड़े व्यक्ति को कठिनाई से उबारने के लिये उसकी सहायता करना अच्छा है, परन्तु उसे अपने सामने सिर न उठा सकने वाला आभारी बनाने के लिये उसकी सहायता करना बुरा है। इसी प्रकार एक ही स्थिति के प्रति दो परस्पर विपरीत दृष्टिकोण हो सकते हैं। अपने भाई

को कोई व्यक्ति कठिन समय का सहारा समझ सकता है, जबकि कोई दुर्बुद्धि उसे सम्पत्ति में भाग बंटाने वाले के रूप में भी देख सकता है।

एक ही जैसी स्थिति वाले या एक ही जैसा कार्य कर रहे दो व्यक्तियों के दृष्टिकोण और प्रयोजन सर्वथा भिन्न हो सकते हैं। उन्हें उनके प्रकट रूप के ही आधार पर समान भाव से अंगीकार करने का परिणाम हितकर नहीं हो सकता।

लोग छोटी बुराई चुनने की बात करते हैं। बुराई भाववाचक संज्ञा है, वह किसी वस्तु के आश्रित रहती है, अतः उसको अलग से नहीं, प्रत्युत् उसके धारक के साथ ही ग्रहण किया जा सकता है। छोटी बुराई चुनने का व्यावहारिक अभिप्राय उस पात्र को चुनना है, जिसमें वह छोटी बुराई विद्यमान है। परन्तु किसी बुराई के दूसरी बुराई से छोटी होने क्या अर्थ है? यही कि उसके धारक में बड़ी बुराई के धारक की तुलना में कुछ अच्छाई भी है या अधिक अच्छाई है। तो फिर हम उस अच्छाई को ही क्यों न चुनें? चयन का पात्र वही है। अन्तर है तो केवल चयनकर्त्ता के दृष्टिकोण का। परन्तु भावी फलितार्थ की दृष्टि से यह दृष्टिकोण बहुत महत्वपूर्ण है। आप बाजार से चावल मोल लेते हैं। संभव है चावलों में कुछ घुन भी हों। यदि आपकी मनोवृत्ति केवल चावल स्वीकार करने की है तो आप घर जाकर चावलों को सूप से फटकार कर घुनों को उड़ा देंगे और आपके पास शुद्ध चावल रह जायेंगे। किन्तु यदि आपने चावलों के साथ, कम ही सही, पर, घुन भी स्वीकार कर लिये तो आपके घर में बढ़कर वे अन्य अनाजों में भी फैल जायेंगे। दृष्टिकोण का यही महत्व है। यदि आपने किसी दोषभाजन को उसके दोषसहित स्वीकार किया तो उसके दोषों की बाढ़ से आप स्वयं आक्रान्त हो जायेंगे। इसके विपरीत यदि आप उसे उसके किन्हीं गुणों के कारण स्वीकार करते हैं तो आप उसके गुणों से ही सम्बन्ध रखेंगे और दोषों का न पोषण करेंगे, न ग्रहण।

महात्मा गांधी के नैतिक सन्देश में शायद सबसे महत्वपूर्ण है साधन की पवित्रता का सिद्धान्त, जिसके अनुसार शुद्ध साधन से ही श्रेष्ठ साध्य को प्राप्त किया जा सकता है, अपवित्र साधन से पवित्र लक्ष्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। जो लोग नैतिकता में विश्वास ही नहीं रखते, उनकी बात और है, परन्तु कभी-कभी धर्म और नैतिक अनुशासन में विश्वास रखने वाले लोगों में से भी कोई-कोई भगवान कृष्ण द्वारा महाभारत युद्ध में अपनायी गयी नीति का दृष्टान्त देकर केवल लक्ष्य की उच्चता और उसे किसी भी संभव साधन से प्राप्त करने पर बल देते देखे जाते हैं। ग्राह्य क्या है—नैतिकता की दुहाई देते हुए स्वयं सीमाओं में बंधकर दुराचारी को और अधिक पापाचार फैलाने के लिये विजयी होने देना, या धर्म की मर्यादा द्वारा निश्चित उचितानुचित के अन्तर की ओर आँखें मूँदकर भी पापाचार को समाप्त करने का उद्योग करना? धर्म में विचारपूर्वक विश्वास रखने वाले के लिये यह कठिन अन्तर्द्वन्द्व है। जो अधर्म को बढ़ने से न रोक सके, उस नैतिकता का क्या लाभ? तथा, जब धर्म की मर्यादा ही तोड़ देनी है तो पापाचार को मिटाने का क्या अर्थ? वैचारिक सुविधा के लिये कोई कह सकता है कि जिसमें कम पाप हो, उसे अपनाया जाये। इसी सुविधा का लाभ आजकल अवसरवादी राजनीतिज्ञ उठा रहे हैं—यह कहकर कि वे दो बुराइयों में से छोटी बुराई को चुन रहे हैं।

सीमा और मर्यादा में अन्तर है। सीमा सत्ता (अस्तित्व) की परिच्छिन्नता है, मर्यादा धर्म की धुरी। मुक्त पुरुष के लिये सीमा कोई नहीं होती, परन्तु मर्यादा की वे रक्षा करते हैं। मर्यादा धुरी प्रदान करती है, सीमा तोड़ने से नहीं रोकती। भगवान कृष्ण ने युद्ध-विधान की सीमा तोड़ी, न्याय की मर्यादा नहीं। मर्यादा उन्होंने छोड़ी, जिन्होंने जिसका अन्न खाया उसका साथ देने के नाम पर अनैतिकता के विरुद्ध मुख नहीं खोला और अन्याय के पक्ष में जाकर खड़े हो गये। मर्यादाच्युत मार्ग धर्मानुशंसित लक्ष्य की ओर नहीं ले जाता।

सीमा तोड़ने का अर्थ मर्यादा से गिरना या अनैतिकता के दूषण को प्रश्रय देना नहीं है। आज के मर्यादा-च्युत राजनीतिक नेता दो बुराइयों में से छोटी बुराई चुनने के नाम पर इस या उस दल में आ-जा रहे हैं।

अपने इस—बुराई को छोटा मानकर अंगीकार कर लेने वाले—दृष्टिकोण के कारण वे केवल बुराई बढ़ा रहे हैं। वे थोड़े से अनैतिक अवसरवाद और थोड़े से भ्रष्टाचार से निरन्तर अधिकाधिक अनैतिकता, अवसरवाद और भ्रष्टाचार में डूबते चले जाते हैं। इस स्वार्थकेन्द्रित अवसरवाद से अब तो मनुष्य की सहज विश्वसनीयता ही डावाँडोल हो गयी है। किस पर विश्वास करें? कौन अपनी कैसी वास्तविकता कब प्रकट करेगा, कैसे समझें?

इसके विपरीत, दूसरी पराकाष्ठा है तादात्म्य के निर्वाह के लिये अपने स्वत्व को ही विसर्जित कर देने की। स्वत्व स्रष्टा में समाहित होता है, संसार में नहीं। राजनीति में सन्धि-समन्वय करने पड़ सकते हैं और एकता के सूत्र जोड़ना तो—कहीं भी हो—बहुत बड़ा कर्म है। परन्तु यही कार्य करते-करते उत्साह और भावावेश में अपना वंश बदल जाने तक की घोषणा कर देना क्या ठीक है? नये जन्म की अनुभूति के साथ इसे स्वीकार करने में कठिनाई नहीं हो सकती, परन्तु लोक-मान्यता से जो जीवित है, उसके सम्बन्ध में ऐसी अति सौजन्यपूर्ण घोषणा से किसी को उसके पुरुषार्थ के सम्बन्ध में भ्रान्ति हो जाये तो क्या आश्चर्य? जीवित रहते वंश बदलता नहीं। औपचारिकता के लिये बदलता है तो उनका—जो किसी के द्वारा गोद ले लिये जाते हैं। दुर्भाग्य के मारे किसी अबोध, अनाथ को गोद जाना पड़ सकता है, किन्तु वह कोई पुरुषार्थ नहीं है। सम्बन्ध जोड़ना—संगठन बढ़ाना—मानव का कर्त्तव्य है, किन्तु यह कर्त्तव्य पुरुषार्थपूर्वक ही सम्पन्न किया जाना चाहिए। पुरुषार्थी वंश को उन्नत करते हैं, उसे बदलते नहीं।

स जातो येन जातेन याति वंश समुन्नतिम्॥

मानव-मानव में एकता के लिये तो प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान सर्वनिष्ठ तत्त्व मनुष्यता ही पर्याप्त है, इसके लिये सिद्धान्तों की बलि क्यों आवश्यक मानी जाय? जिसमें मनुष्यता जीवित है, उसके लिये किसी की भी सच्ची सिद्धान्तनिष्ठा हर्ष की वस्तु बनेगी; जिसमें मनुष्यता ही नहीं रही हो, उसकी राक्षसी भूख को अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी नहीं मिटा सकते। वह आपका नहीं हो सकता, अपना स्वार्थ देखकर ही वह अपना मार्ग निर्धारित करेगा। उसके द्वारा समरसता के अभाव की चर्चा उसका सुचिन्तित ढोंग होगा।

समरसता का अर्थ एकरसता नहीं है। जीवन विविधता का अभाव नहीं, संयोजित समन्वय है— संयोजित, किन्तु इतना विविध कि व्यावहारिक दृष्टि से उसे पूर्ण कहा जा सकता है। मनुष्य ऐसा ही 'व्यवहारतः पूर्ण' संयोजन है, इसीलिये विराट का 'पुरुष' रूपक से वर्णन किया गया है। पुरुष या मनुष्य व्यष्टि है तो जीव-समष्टि विराट् पुरुष। प्रत्येक जीवन्त संगठन अपने आकार के अनुरूप छोटा या बड़ा मानव-समष्टि होता है—वह विराट् पुरुष का लघु संस्करण या व्यष्टि पुरुष का बृहत् संस्करण होता है। अतः स्वस्थ जीवन के लिये संस्था या संगठन में भी उसी प्रकार की विविधता और संयोजन आवश्यक है, जैसा पुरुष अर्थात् मानव में है। उसमें 'व्यवहारतः पूर्ण' समन्वय या समरसता बहुत आवश्यक है, किन्तु एकरसता या नीरसता तो उसे व्यावहारिक जीवन के अयोग्य बना देगी।

मनुष्य हो या संस्था, प्रकृति के नियम से कभी न कभी अन्त उसका होगा ही। देहपात के पूर्व ही परम पूर्णता प्राप्त न की—परम सत्य का साक्षात्कार न किया—तो "महती विनष्टिः" है। किन्तु यह अमृत-साधना उस देह में तो अधिक दिनों तक नहीं चलायी जा सकती, जिसके अंग-अंग में विष फैल चुका हो, सभी रस फट रहे हों और एक ही रस भरता जा रहा हो—पूयरस। जब तक जीवन की सम्भावना हो, रोग की चिकित्सा कर्त्तव्य है; जिसमें जीवन संभव न रहे, उस दुश्चिकित्स्य, दुःखालय, जर्जर कलेवर का मोह कैसा? अपने-अपने समायोजन के अनुसार कोई दीर्घायु होगा, कोई अल्पायु, परन्तु जीव की जिजीविषा फिर भी रहेगी। पुराना कलेवर विशीर्ण हो जायेगा तो नयी स्फूर्ति के साथ नया जन्म होगा। अमृतत्व के साधक हर जन्म में आगे बढ़ते रहेंगे।

—हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल

वाम भक्ति

घिरता अंधेरा, मार्ग अभी शेष, गरजते बादल, ओलों की वर्षा। सभी एक साथ आश्रय लेने को विवश थे, यद्यपि आये थे अलग-अलग दिशाओं से। सौभाग्य था कि शीघ्र ही एक ऊँची विशद गुफा मिला गयी सबको—इतनी रमणीक, इतनी आरामदायक, ऐसी तो कल्पना भी नहीं थी। फिर क्या था, वामाचारी कापालिकों ने अपना अघोर ताण्डव प्रारम्भ कर दिया। ऋषियों की तपोभूमि सरीखी वह पर्वत-कन्दरा देखते ही देखते कुत्सित दृश्यों से अपवित्र होने लगी। कुछ देर बाद वे सबको शिखा-सूत्र का परित्याग करके अघोरपंथ में दीक्षित होने के लिये बाध्य करने लगे। उनसे पूछा गया कि इस कन्दरा में रहने और शिखा-सूत्र त्यागने का क्या सम्बन्ध है? तो कापालिकों ने आरोप लगा दिया कि इन चिह्नों को धारण करने वाले लोग इनसे जाल बनाकर कापालिकों को उसमें बन्द कर देंगे। फिर उन्होंने तर्क दिया कि अद्वैत वेदान्त में विश्वास रखने वाले वस्तुतः अद्वैत शासन स्थापित करना चाहते हैं और इसके साथ प्रारम्भ कर दी धक्कामुक्की, जिससे धीरे-धीरे सभी गुत्थमगुत्था होते हुए नीचे गिर गये और अपना-अपना आश्रय अलग ढूँढने लगे।

इन दृश्यों के साक्षी एक आकाशचारी सिद्ध ने क्षत-विक्षत होकर श्मशान में पड़े कुछ कापालिकों से पूछा—यह सब तुमने क्यों किया? तो उनका उत्तर था—काली माता की गुफा में हम दक्षिणमार्गियों कैसे सहन कर सकते थे?

सिद्ध बोले—जिस जगन्माता की गोद में ही वे जन्मे, पले और बड़े हुए, उसे न तो कभी उनकी उपासना पर आपत्ति हुई, न ही आज तक उसने कभी उन्हें अपनी गोद—इस धरती—से निकाल बाहर करने की आवश्यकता अनुभव की, और तुम हो कि मातृभक्ति का ढोंग करते हो, पर उसी माँ के पुत्र—अपने सहोदरों को एक रात भी सहन नहीं कर पाये।

पी० परमेश्वरन

जयप्रकाश नारायण का रिक्थ (Legacy)

लोकनायक जयप्रकाश नारायण महान् पुरुषों के उस वर्ग में थे, जिनका कोई विकल्प नहीं होता। वास्तव में महात्मा गांधी के देहावसान के बाद, वे एक प्रकार से दूसरे गांधी बन गये थे। वे दलगत राजनीति से ऊपर थे, अतः संपूर्ण राष्ट्र के थे। वे सत्य और न्याय के प्रबल समर्थक थे, अतः वे राष्ट्रीय आत्मा की चेतना भी माने जाते थे। तर्कसंगत विचारों को ग्रहण करने के लिये उनकी बुद्धि सदा मुक्त रहती थी, अतः उसमें एक चिरंतन नवलता थी। वे सत्य के शाश्वत अनुसंधाता थे, विनम्रता और अहिंसा की साकार प्रतिमा थे। परन्तु, विनम्रता के बाह्य परिधान के नीचे उनमें वह लौह इच्छाशक्ति थी, जिसने उन्हें नयी मानवता का एक अग्रिम सेनानी बना दिया था।

सत्य-मार्ग का पथिक

गांधी जी और जयप्रकाश की समानता का आधार उनकी सत्य की खोज के लिये चिरंतन साधना और सत्ता के प्रति उनकी नितान्त निष्काम भावना भी थी। सत्ता के सतत अनुसंधान के कारण ही उनके जीवन में कई परस्पर विरोधी प्रसंग भी घटित हुए हैं। इससे उनके व्यवहार में सातत्य के और निश्चयात्मकता के अभाव और संशयात्मक बुद्धि का भी आभास होता था। परन्तु उनके जीवन के सभी मोड़ों और परिवर्तनों के पीछे दो आधारभूत लक्ष्य थे—मातृभूमि के स्वातंत्र्य की उत्कट पिपासा और न्याय तथा मानवता के आधार पर एक नयी समाज-व्यवस्था के निर्माण की चिन्ता। तरुणावस्था में वे अध्ययन के लिये अमेरिका चले गये थे, जहाँ वे मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित हुए। उन्हें भारत को स्वाधीन कराने वाले दर्शन और कार्यपद्धति की तलाश थी। मार्क्सवाद ने उन्हें आकर्षित इसलिये किया कि उसके माध्यम से रूस को मुक्ति मिली थी। परन्तु जयप्रकाश मार्क्सवाद की सभी मान्यताओं को स्वीकर करने को तैयार नहीं थे, क्योंकि वे अनिवार्यतः और मूलतः राष्ट्रभक्त थे।

अमेरिका से लौटने पर स्वातंत्र्य-साधना उन्हें गांधी

जी के समीप खींच ले गयी। जयप्रकाश गांधी-दर्शन और गाँधी जी की कार्यपद्धति के अनुगामी बन गये। वे गांधी जी की कटु आलोचना भी करते रहते थे, परन्तु इससे मिलन के अवसरों पर उनके चरण-स्पर्श में कोई व्यवधान नहीं आया। जब मीनू मसानी जैसे मित्र इसका मखौल उड़ाते, तो उनका उत्तर रहता था कि सुशील हिन्दू के रूप में वयोवृद्ध का सम्मान करने के संस्कार मैंने शैशव से प्राप्त किये हैं और मुझे कोई कारण नहीं दिखायी देता कि मैं इन्हें तिलांजलि दूँ।

मार्क्सानुभावी रहते हुए भी, जयप्रकाश गांधीजी के प्रभाव की छाया में क्रमशः आते गये, परन्तु फिर भी गांधी जी के देहावसान के बहुत बाद तक भी उन्होंने मार्क्सवाद के साथ अपना लगाव नहीं छोड़ा। १९५३ में जाकर पूना में अपने २१ दिन के उपवास के अवसर पर जयप्रकाश जी ने मार्क्सवादी आस्थाओं से अंतिम विदा ली।

सत्य के अनुसंधान की लम्बी यात्रा उन्होंने निरे भौतिकवादी के रूप में आरम्भ की, परन्तु उसका पर्यवसान सच्चे अर्थों में अध्यात्मवादी के रूप में हुआ। मार्क्सवादी विग्रह के सतत विकास का अन्तिम रूपान्तर हिन्दुत्व की साकार प्रतिमा में हुआ। यह चमत्कार सम्भव इसलिये हो पाया कि वे सच्चे अर्थों में सत्य के अनुसंधाता और विचारों में पूर्णतः उन्मुक्त थे। सारे जीवन भर, उन्होंने किसी को वैचारिक मतभेद के आधार पर अपना शत्रु मानने से इन्कार किया। यह वास्तविकता उनके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सम्बन्धी दृष्टिकोण से चरितार्थ होती है। १९५३ में भी, जब सभी तथाकथित प्रगतिशील संस्थाओं तथा व्यक्तियों का रा० स्व० संघ के प्रति राजनीतिक अछूत के समान व्यवहार था, जयप्रकाश नारायण ने, उन दिनों समाजवादी दल का अध्यक्ष होते हुए भी, इस राजनीतिक अस्पृश्यता की वृत्ति को अनुचित बताया। उन्होंने कहा था कि "रा० स्व० संघ के इन उपेक्षित तरुणों के प्रति हमें सद्भावना रखनी चाहिए। संघ के ये युवक तथा युवतियाँ निम्न-मध्यम वर्ग के हैं। अनुशासन उनका वैशिष्ट्य है। हमें इन तरुणों को अस्पृश्य के समान नहीं समझना चाहिए।"[१] कालान्तर में ज्यों-ज्यों जयप्रकाश जी संघ के अधिकाधिक सम्पर्क में आते गये, इस भावना में और भी निखार आता गया। बिहार के अकाल में वे संघ के प्रत्यक्ष सान्निध्य में आये, फलतः वे संघ के विमुग्ध प्रशंसक बन गये। यहाँ तक कि अन्त में ३ नवम्बर, १९७८ को उन्होंने उद्घोष किया, "रा० स्व० संघ एक क्रांतिकारी संगठन है। देश का कोई संगठन उसके समकक्ष भी नहीं आ पाया है। सामाजिक परिवर्तन, जाति, वर्ग आदि भेदों के निराकरण और दीन-दुखियों के आँसू पोंछकर उनका कष्ट-निवारण करने की क्षमता केवल संघ में है। मैं यह आपकी प्रशंसा के लिये नहीं कह रहा हूं। मेरा विश्वास है कि आपको एक महान् ऐतिहासिक दायित्व वहन करना है।"

आस्थाओं में परिवर्तन

सत्य की खोज और भारत के पुनर्निर्माण की उत्कट अभिलाषा उन्हें गाँधीवाद तक लायी। लम्बे मानसिक संघर्ष के उपरान्त उन्होने मार्क्सवाद से नाता तोड़ा, क्योंकि उन्हें अनुभव हुआ कि बुद्धि के स्तर पर उसका दर्शन तर्क-संगत नहीं है और व्यवहार में वह सामाजिक परिवर्तन का प्रभावकारी माध्यम बनने में अक्षम है। जयप्रकाश ने १९५३ में लिखा—"मैंने अनेक वर्षों तक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की देवी के मन्दिर में उपासना की है, क्योंकि वह अन्य दर्शनों की अपेक्षा मुझे अधिक सन्तोषजनक प्रतीत होता था। परन्तु एक ओर तो दार्शनिक जिज्ञासा की तृप्ति नहीं हो पायी, दूसरी ओर मुझे यह अनुभव होने लगा कि किसी प्रकार का भी भौतिकवाद मनुष्य को पूर्ण मानवता की उपलब्धि से वंचित कर देता है। भौतिक सभ्यता में मनुष्य को सत्प्रवृत्तियों के लिये कोई बौद्धिक प्रेरणा नहीं मिलती। हो सकता है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के राज्य में 'भय' मनुष्य को अनुशासित करता है और दल (पार्टी) भगवान का स्थान ले लेता है, परन्तु जब स्वयं यह नया भगवान पाप की ओर अग्रसर होता है तो पाप ही लोक-धर्म बन जाता है। अतः मेरा विश्वास हो गया है कि

श्रेयस्कर की प्रेर
से परे ढूंढना हो
यह भी अनुभव
का कार्य भौति
सकता।"[२]

जयप्रकाश जी ने
इन शब्दों में स्प

"मुझ पर अने
अपने विचार अ
हूं। परन्तु मेरा
में मैं एक ही
करता रहा हूं
रहा हूं कि
कर एक वास्त
लोकतन्त्र की स्
में मैंने कई वि
मार्गों का अनुस
अनुभव किया है
जी के पास है
विचारों के अंध
क्रांतिकारी रूप

साम्यवाद से मो

साम्यवाद के
करने योग्य है
आकर्षण का
"मार्क्स का सम
है कि उसने न
पद्धति प्रस्तुत
क्षमता भी दी
पर्याप्त समय
में, विशेषतः स्
उन्हें उपयुक्त
वादी लगा। क
लन में भाग ले
उन्होंने अत्यन्त

श्रेयस्कर की प्रेरणा पाने के लिये मनुष्य को भौतिकता से परे ढूंढना होगा। इसी के अनुप्रमेय के रूप में मैं यह भी अनुभव करता हूं कि समाज की पुनर्रचना का कार्य भौतिकवादी दर्शन की प्रेरणा से नहीं हो सकता।"[३]

जयप्रकाश जी ने अपने जीवन में इस परिवर्तन का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है :—

"मुझ पर अनेक बार आरोप लगाया गया कि मैं अपने विचार और कार्यक्षेत्र बार-बार बदलता रहा हूं। परन्तु मेरा आग्रह है कि इन सब बाह्य परिवर्तनों में मैं एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा हूं, एक ही प्रश्न का उत्तर खोजता रहा हूं कि भारत को कैसे स्वतन्त्र बनाकर एक वास्तविक सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना की जा सकती है। इस खोज में मैंने कई विचारधाराओं और कई राजनीतिक मार्गों का अनुसरण किया है, परन्तु अन्त में मैंने यही अनुभव किया है कि इन सब प्रश्नों का उत्तर गांधी जी के पास है। तथापि, वह उत्तर गांधी जी के विचारों के अंधानुकरण में नहीं, उनको गतिशील और क्रांतिकारी रूप में आत्मसात करने में है।"[४]

साम्यवाद से मोह-भंग

साम्यवाद के प्रति जयप्रकाश का मोहभंग अध्ययन करने योग्य है। आरम्भ में कार्ल मार्क्स के प्रति उनके आकर्षण का कारण उनका यह विश्वास था कि "मार्क्स का समाजशास्त्र में सबसे बड़ा योगदान यह है कि उसने न केवल समाज के अध्ययन की एक पद्धति प्रस्तुत की है, अपितु उसमें परिवर्तन लाने की क्षमता भी दी है।"[५] मार्क्स के प्रति उनकी श्रद्धा पर्याप्त समय तक बनी रही। परन्तु, सोवियत रूस में, विशेषतः स्टालिन द्वारा अपनाया हुआ अनुप्रयोग उन्हें उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। उन्हें वह अमार्क्सवादी लगा। कांग्रेस द्वारा छेड़े हुए स्वाधीनता-आन्दोलन में भाग लेने से कम्युनिस्टों की अस्वीकृति की उन्होंने अत्यन्त कटु आलोचना की। "मेरी समझ में तनिक भी नहीं आया कि कम्युनिस्टों ने कांग्रेस से अलग होकर स्वाधीनता के संघर्ष में उसका विरोध कैसे किया?"[६] स्टालिन के शासनकाल के कम्युनिस्ट रूस की गृह तथा विदेश नीतियों और भारत तथा अन्य देशों में कम्युनिस्ट आन्दोलन पर उसके निर्णयात्मक प्रभाव ने जयप्रकाश की कम्युनिज्म सम्बन्धी धारणाओं पर व्यापक आघात किया। उन्होंने इसे निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है :

"कम्युनिस्ट इस प्रकार का व्यवहार इसलिये करते हैं कि न तो भारत में और न अन्यत्र ही उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है। उन्हें क्रेमलिन की ओर से आने वाली हवा का रुख देखकर पाल तानने पड़ते हैं। अन्ततोगत्वा, विश्वभर के कम्युनिस्ट आन्दोलन की नीतियों और सैद्धान्तिक आधार का भी निर्धारण रूस की गृह और विदेश नीतियों द्वारा होता है। रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के मतभेद विश्व भर की कम्युनिस्ट पार्टियों में भी प्रकट होते हैं। यदि रूस में विरोधियों का सफाया होता है तो अन्यत्र भी सफाया प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु यह सोचना गलत है, जैसी कि कई बार लोग भूल कर जाते हैं कि विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन का निर्धारण केवल रूस की विदेश-नीति द्वारा होता है। रूस की विदेशनीति उसकी गृह-नीति की ही अभिव्यक्ति मात्र होती है। अतः अन्त में रूस का राज्य-तन्त्र और सामाजिक व्यवस्था ही विश्वभर के कम्युनिस्ट आन्दोलन का निर्धारण करती है। क्रांति के बाद रूस कई नयी-नयी और तेजी से बदली हुई परिस्थितियों में से गुजरा है। रूसी नीति के इन सब परिवर्तनों की अभिव्यक्तियाँ अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में हुई हैं, जिसका परिणाम अनेक विचित्र विसंगतियों और अन्तर्विरोधों में हुआ है और राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टियों की नीतियाँ वस्तुपरकता और यथार्थ से पूर्णतः विच्छिन्न हो गयी हैं।"[७]

रूस में व्यक्तिगत स्वाधीनता का पूर्ण अपहरण जयप्रकाश जी को असह्य था। "रूस में समाजवाद हो सकता है, परन्तु वैयक्तिक स्वाधीनता तनिक भी नहीं है। सरकार या पार्टी की आलोचना का अधिकार

रंच मात्र नहीं है और शासन का भय इतना छा गया है कि परिवार तक में पति पत्नी से, पुत्र पिता से बात करते हुए डरता है कि हमारे बीच में ही सरकारी भेदिया न हो।"[७] जयप्रकाश के अनुसार, "कम्युनिस्ट व्यवस्था मानव के मूल पर ही आघात करती है, क्योंकि वह उसके आत्मा की स्वायत्तता को नकारती है और विधिवत उसको कुचलती है। दल और प्रशासन के रूप में प्रस्तुत शक्ति और अधिकार की गरिमा को गौरवान्वित करके तथा प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु को उसकी असीम सत्ता का तुच्छ दास बनाकर, उसने समाज को मानव-आत्मा के लिये एक विशाल कारागार बना दिया है।"[८] यही नहीं, वे इस कम्युनिस्ट धारणा के कट्टर विरोधी थे कि "राज्य ही सामाजिक पुनर्रचना का एक मात्र माध्यम है, क्योंकि इस अवस्था में तो हम समाज का यंत्रीकरण ही कर डालते हैं, जिसमें शासन-तन्त्र सर्वशक्तिमान होता है, लोक-चेतना मृतप्राय हो जाती है और व्यक्ति विशाल अमानवीय यन्त्र का एक क्षुद्र पुर्जा मात्र बन कर रह जाता है।"[९]

गांधी जी के प्रति आकर्षण का आधार

जयप्रकाश द्वारा कम्युनिज्म को अस्वीकार करने के विविध कारणों को रूपायित करने के बाद, यह अध्ययन रोचक होगा कि गांधीवाद ने उन्हें क्यों और कैसे आकर्षित किया ? उस समय भी, जब वे कट्टर समाजवादी—भारत में समाजवादी आंदोलन के सर्वाधिक अधिकारी प्रवक्ता—थे, तब भी जयप्रकाश की पूर्णतः भौतिकवादी समाजवाद में कभी आस्था नहीं थी। उन्होंने तो १९४८ में ही लिखा था, "प्रायः यह विश्वास कर लिया जाता है कि यदि समाज में शोषण न हो और हर एक व्यक्ति को भरपूर भोजन, वस्त्र, आवास आदि उपलब्ध हों, तो सारी व्यवस्था ठीक हो जायेगी। परन्तु अच्छे खाने-पीने, वस्त्र और ठिकाने की सुविधा प्राप्त पशुओं का गिरोह खड़ा करना समाजवाद के लक्ष्य से कोसों दूर है।"[१०] जीवन-मूल्यों पर आधारित समाजवाद की अवधारणा ने जयप्रकाश को मूलभूत नैतिक मानकों की ओर आकर्षित किया। उन्होंने कहा, "अतः यदि हमारे दल का लक्ष्य अच्छे वस्त्र और आवास से संतुष्ट पशु मात्र निर्मित करना नहीं, वरन् श्रेष्ठ मानव निर्मित करना है, तो हमारा सारा राजनीतिक कार्य विशिष्ट नैतिक मूल्यों द्वारा प्रेरित होना चाहिए।"[११] तभी तो, 'समाजवाद और सर्वोदय' शीर्षक से अपने लेख में उन्होंने लिखा, "प्रत्येक समाजवादी को गाँधीवाद के जिस पक्ष की ओर अपना ध्यान सर्वप्रथम केन्द्रित करना चाहिए, वह है उसका नैतिक तथा चारित्रिक आधार —जीवन-मूल्यों पर उसका आग्रह।"[१२] जयप्रकाश को पता लगा कि "मानवीय मूल्यों के आग्रह के कारण, गाँधीवाद ऐसा दोष-निवारक प्रस्तुत करता है, जिसके अभाव में समाजवादी संसार अपने सिद्धान्त के आधार को भी भुला बैठा।" उन्होंने गांधीवाद की रूसी स्टालिनवाद से विपरीतता प्रदर्शित की, जिसने समाजवादी दर्शन को यांत्रिक मैकियावेली आचरण-संहिता में ऐसा परिवर्तित किया कि अच्छे बुरे, पाप और पुण्य का विवेक ही समाप्त हो गया।" उसके अनुसार तो साध्य ही साधन के औचित्य का प्रमाण बन गया, परन्तु जयप्रकाश के अनुसार, "महात्मा गांधी ने सबसे बड़ी बात हमें यह सिखायी कि साधन ही साध्य है, दूषित साधनों से श्रेष्ठ साध्य कभी प्राप्त नहीं हो सकते। उच्च लक्ष्य के लिये तो श्रेष्ठ साधन ही अपनाने पड़ते हैं।"

दूसरा पक्ष, जिसने जयप्रकाश को गांधीवाद की ओर आकर्षित किया, वह था गांधी जी के अहिंसक सत्याग्रह का निराला ढंग। जयप्रकाश ने लिखा : "गांधी जी से पहले शोषित लोगों के पास अत्याचारी से टक्कर लेने का मार्ग केवल हिंसा का ही था ··· गांधी जी की सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह में त्रस्त एवं शोषितों को एक नयी प्रविधि मिली है, जो संघर्ष को सामान्य शान्तिपूर्ण सीमाओं से आगे ले जाती है और सामाजिक न्याय तथा सामाजिक-परिवर्तन को पूर्ण अभिव्यक्ति देती है।"[१३] जयप्रकाश ने इस लोकधारणा का खंडन किया कि हिंसापूर्ण क्रांति अधिक गतिशील और निश्चित होती है। उनके अनुसार इन दोनों में से एक बात भी सच नहीं है, अतः उन्होंने हिंसापूर्ण मार्ग को अस्वीकार किया। उनके अनुसार "अहिंसक क्रांति के अनुभव से पता लगता है कि वही सर्वाधिक

शीघ्रगामी मार्ग है। और, क्योंकि इस आंदोलन में बल-प्रयोग नहीं होता, आग्रह का ही आधार रहता है, और क्योंकि इसका आरम्भ निम्नतम स्तर से होता है, इसके द्वारा लक्ष्य-प्राप्ति की सम्भावनाएं अधिक हैं।[१४]

जयप्रकाश जी के गांधीवाद की ओर आकर्षित होने का एक कारण और भी था। वह था—गाँधी जी द्वारा आर्थिक एवं राजनीतिक विकेन्द्रीकरण पर आग्रह। जयप्रकाश का उन वामपंथी नेताओं से मत-भेद था, जो विकेन्द्रीकरण को क्रान्ति-विरोधी मानते हैं, और वे इसको भी नहीं मानते थे कि आर्थिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी को त्यागना है। भारत की जैसी पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था के लिये उन्होंने औद्योगिक विकेन्द्रीकरण का प्रबल समर्थन किया, जिसमें उत्पादन को पूँजी-प्रधान न होकर श्रम-प्रधान होना चाहिए। उनके अनुसार राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ शक्तिहीन राज्य या योजनापूर्ण जीवन का अभाव नहीं है। संक्षेप में, जयप्रकाश ने गाँधी जी को इसलिये स्वीकार किया कि उनके अनुसार वे "प्रतिगामी नहीं, गांधी जी तो एक अपूर्व मौलिक सामाजिक क्रांतिकारी थे और उन्होंने समाजचिंतन एवं सामाजिक परिवर्तन की उन प्रक्रियाओं में नया योगदान किया, जो मानव-प्रगति और सभ्यता के विकास के लिये अनिवार्य है।"[१५]

दो प्रतिमान

भारतीय स्वाधीनता-संघर्ष और पुनर्रचना के दीर्घकाल में, जयप्रकाश जी ने इस विषय में गहन चिन्तन किया है कि भारत को कैसा लक्ष्य सामने रखना चाहिए और उसकी प्राप्ति के लिये कैसी प्रविधियाँ अपनानी चाहिए। यद्यपि विश्व में अनेक विकसित देश हैं, तथापि जयप्रकाश जी का विश्वास था कि उनमें से एक भी ऐसा नहीं, जिसे भारत अपना आदर्श मान सकता है। विकसित देशों के दोनों वर्गों से उनका निकट-परिचय था—समृद्ध पाश्चात्य देशों से भी तथा कम्युनिस्ट देशों से भी। वे मानते थे कि पाश्चात्य और पौर्वात्य कम्युनिस्ट—दोनों प्रतिमानों में स्थायी मूल्य के कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिन्हें विकासशील देशों को स्वीकार तथा आत्मसात् करना चाहिए। "परन्तु दोनों ही प्रतिमानों में कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं, जिन्हें अस्वीकार करना चाहिए। पाश्चात्य प्रतिमान में प्रधान सिद्धान्त है—व्यक्तित्व और प्रतियोगिता की स्वतन्त्रता, जिसमें यह निहित है कि इस प्रक्रिया में स्वयं ही असमर्थ का ह्रास हो जायेगा। भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि पर अत्यधिक आग्रह भी इस प्रणाली में है, जिसका परिणाम है उनकी सतत वृद्धि और फलतः असंतुलन। .... नगरीकरण की ओर अन्धाधुन्ध दौड़, फलतः दानवीय बृहदाकार धारण करने की प्रवृत्ति ने समाज को तहस-नहस कर डाला है, नगर को ग्राम से विच्छिन्न करके मानव को प्रकृति से दूर कर दिया है। इस सबका परिणाम है—व्यक्ति और समाज का विकृत विकास। दूसरी ओर कम्युनिस्ट प्रतिमान भी मनुष्य और समाज के विकास का विकृत चित्र ही प्रस्तुत करता है। मानव-आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करके तथा उसकी स्वतन्त्रता को जानबूझकर दबा करके वह मानवता के आधार पर ही कुठाराघात करता है।"[१६]

विकास के इन दो प्रतिमानों से प्राप्त अनुभवों को समुचित महत्व देते हुए जयप्रकाश जी ने निष्कर्ष निकाला कि "नये देशों को इन दोनों प्रतिमानों को अस्वीकार करके, इनमें से जो भी कुछ उपयोगी और व्यक्ति तथा समाज के भौतिक एवं आध्यात्मिक संतुलित विकास के लिये उपादेय है, उसे आत्मसात करना चाहिए।" भारत के लिये जयप्रकाश की आस्था बनी कि गाँधी जी ने विकास के ऐसे नये प्रतिमान की रचना के लिये प्रेरणा तथा विचार प्रदान किये हैं। उनका कथन है कि "गांधी जी के राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य विचार एकात्म जीवन-दर्शन के ही अविभाज्य अंग हैं।" यह सच है कि गांधी जी द्वारा अपने विचारों को व्यावहारिक रूप दिये जाने से पूर्व ही रचनात्मक भूमिका के चरम शिखर पर उनके जीवन का सहसा अंत कर दिया गया, परन्तु जयप्रकाश को विश्वास था कि उनके दर्शन के प्रमुख तत्त्व शास्त्रीय चिंतन का आधार बन सकते हैं और उनकी

गतिशील व्याख्या से समसामयिक समाज के साथ उनकी प्रासंगिकता भी स्थापित की जा सकती है।

जयप्रकाश के अनुसार, गाँधी-चिंतन का केन्द्र-बिन्दु मानव है। समाज के केन्द्र में व्यक्ति को प्रस्थापित करके गाँधी जी ने उनके पारस्परिक सम्बन्धों की उस संश्लिष्ट समस्या का समाधान खोजने का प्रयत्न किया है, जिसका हल न तो पाश्चात्य विश्व का व्यक्तिवाद और न पूर्व के कम्यूनिज्म का समूहवाद निकाल पाया है। "गांधी जी ने इसका नैतिक हल प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार दोनों के पारस्परिक दायित्व की भावना का निर्धारण होना चाहिए। व्यक्ति-व्यक्ति का कल्याण समाज का लक्ष्य रहे और सामाजिक हित भी सर्वोपरि हो—इसकी समुचित व्यवस्था आवश्यक है। गाँधी जी की समाज-कल्पना में दोनों परस्परावलम्बी हैं। न तो समाज की उन्नति व्यक्ति की उपेक्षा करके हो और न व्यक्ति का वैभव समाज की अवहेलना के साथ हो। ··· समस्त समाज के कल्याण के लिये स्वयंस्वीकृत सामाजिक अनुशासन के प्रति सहज समर्पण व्यक्ति और उसके अवयवी—समाज—दोनों को शक्ति प्रदान करता है। व्यक्ति और समाज सम्बन्धी गाँधी जी के विचार उनके एक प्रसिद्ध उद्धरण में मिलते हैं, जो इस प्रकार है, "विश्व मानव-समाज एक ऐसा सागर होगा, जिसका केन्द्र होगा व्यक्ति और वह व्यक्ति सदा अपने गाँव के लिये प्राणोत्सर्ग करने को तत्पर होगा तथा गाँव अपने जनपद के लिये बलिदान करने को तत्पर। इस प्रकार व्यक्तियों से निर्मित यह समग्र रूप एक अखंड जीवन का आकार धारण कर लेगा, जहाँ व्यक्तियों में किसी प्रकार का आक्रामक अहंकार नहीं होगा, वरन् उस महान मानव-सागर की बूंदों का उसके समग्र वैभव में अखंड अविभाज्य सहभाग होगा।"

भारतवर्ष के पुनर्निर्माण की समस्या का विचार करते हुए जयप्रकाश के सामने प्रश्न खड़ा हुआ कि भावी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं का क्या स्वरूप होना चाहिए? उपर्युक्त महान आदर्शों को साकार करने के लिये हमें कैसे प्रतिमान का विकास करना होगा? उनका दृढ़ विश्वास था कि "समाज की प्रत्येक संस्था अपनी स्वाभाविक और विशिष्ट भावभूमि में विकसित होती है और अपने विशेष देशकाल-वातावरण के परिवेश से खाद-पानी ग्रहण कर फलती-फूलती है"। उनको यह स्पष्ट था कि कोई परकीय संस्था, बिना देश की धरती में रमे और स्वदेशी वायुमण्डल में घुलमिल कर आत्मसात हुए, पनप नहीं सकती। उन्हें ज्ञात था कि भारत के लम्बे इतिहास में उसकी संस्थाओं ने दीर्घ परम्परा से एक ऐसा वैशिष्ट्य प्राप्त कर लिया है, जो विशुद्ध भारतीय है।

जयप्रकाश को इस बात का भी ज्ञान था कि "हमारी आजकल की राजनीतिक और प्रशासनिक संस्थाएं विदेशी प्रतिरोपण हैं। इनको (अथवा इनकी पूर्ववर्ती संस्थाओं को) भारत की धरती में प्रतिरोपित करने में, भारत के निजी राजनीतिक प्रतिमानों की ओर—चाहे वे आधुनिक हों, या पूर्ववर्ती—अंग्रेजों ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। अंग्रेजी शासन समाप्त होने के बाद, भारतीय संविधान के जनक भी—राजनीतिज्ञ और विशेषज्ञ दोनों प्रकार के लोग—परम्पराओं और भारतीय राष्ट्र-जीवन के स्रोतों की ओर से उदासीन रहे। परिणाम कुछ हर्ष का विषय नहीं है।"[१७] स्वतन्त्र भारत के संविधान की रचना के समय संविधान के प्रणेताओं ने गाँधी जी से तनिक भी परामर्श नहीं किया, न ही गाँधी जी ने इसमें जीवंत रुचि ली। यहां तक हुआ कि ग्राम-पंचायत को, जिसे गाँधी जी भारतीय लोकतन्त्र की आधार-शिला मानते थे, संविधान में कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ।

गाँधी जी के 'ग्राम-राज' के आधार पर, जो कि वस्तुतः प्राचीन भारत की राजनीतिक संरचना का भी मूल स्तम्भ है, जयप्रकाश ने स्वाधीन भारत के राजनीतिक प्रारूप के विषय में 'गांव से निर्माण' शीर्षक से एक लेख में अपने विचारों को रेखाबद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने प्रश्न उठाया, "राष्ट्रीय पुनर्रचना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि आज का छिन्न-विच्छिन्न ग्राम, जिसमें 'सामूहिक निश्चय'

जैसी कोई वस्तु नहीं रह गयी है, किस प्रकार एक वास्तविक स्वायत्तशासी समाज में परिणत होकर भारतीय राजनीति का स्थायी आधार-स्तम्भ बन सकता है ?" जिस व्यवस्था की उन्होंने कल्पना की, वह इस प्रकार है :—"प्राथमिक राजनीतिक संस्था स्वाभाविक रूप से वही है, जो प्राथमिक सामाजिक इकाई है, अर्थात् हमारा ग्राम और उसके समुचित राजनीतिक अंग-उपांग, जिनमें ग्राम-परिषद् भी सम्मिलित है। यह परिषद् सभी स्थानीय समस्याओं पर निर्णय करे तथा उनके सम्बन्ध में अधिकतम अधिकार और स्वाधीनता का प्रयोग करे। यह भी स्वाभाविक ही है कि ये ग्राम या नगर-परिषदें मिलकर, परिस्थितियों के अनुसार, छोटी-बड़ी क्षेत्रीय परिषदों में संयोजित हो जायेंगी। क्षेत्रीय परिषदें अपनी स्थानीय समस्याओं का विचार करेंगी तथा उनके निदान और निराकरण के लिये पूर्णत: अधिकार-सम्पन्न होंगी। इनको संयुक्त करके जिला-परिषदें बन सकती हैं और इस प्रकार क्रमश: हम राष्ट्रीय-संसद तक पहुँच सकते हैं, जिसमें सभी राज्यों की सभाओं का समन्वय होगा।"[१८]

'गाँधी और विकेंद्रीकरण की राजनीति' शीर्षक वाले अपने लेख में, जयप्रकाश ने गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित समाज के सतत प्रसारमान, अनारोही वृत्तों का अनुमोदन करते हुए, उनके गोलमेज सम्मेलन में दिये हुए भाषण को उद्धृत किया है। गाँधी जी के अनुसार, "भारत के ७ लाख गाँव अपने धरती-पुत्रों की इच्छा के अनुसार, उनके मतदान द्वारा, संगठित होंगे। ये गाँव, प्रति गाँव एक मत के आधार पर, जिला प्रबन्ध-पालिका का निर्वाचन करेंगे और ये जिला-परिषदें राष्ट्रपति का निर्वाचन करेंगी, जो प्रमुख राष्ट्रीय प्रशासक होगा।"[१९] गाँधी जी के तत्सम्बन्धी विचारों का समाहार करते हुए, जयप्रकाश का मत है कि उनका यह राजनीतिक ढाँचा अवश्य ही स्वैराचारी व्यक्तियों की विषम चाल पर आश्रित नहीं, वरन् सूत्रबद्ध संगठन पर आश्रित रहेगा। उन्हें यह भी विश्वास था कि उनकी इस विकेन्द्रित और स्वनियंत्रित व्यवस्था में सत्तालोलुप राजनीतिक दलों का कोई स्थान नहीं होगा, यद्यपि उसमें अनेक प्रकार के राजनीतिक सम्प्रदायों को स्थान रहेगा।

राजनीतिक विकेंद्रीकरण के प्रभावी होने के लिये पूर्व-मान्यता के रूप में आर्थिक विकेन्द्रीकरण भी आवश्यक है। गाँधी जी ने ऐसे 'ग्राम-स्वराज्य' की कल्पना की थी, जिसमें प्रत्येक गाँव एक सर्वांगसम्पूर्ण लोकतन्त्र के रूप में अपनी मौलिक आवश्यकताओं के लिये आसपास के गाँवों पर आश्रित न रहे। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के लिये जयप्रकाश जी की कल्पना कृषि-उद्योगाश्रित थी, जिसमें गाँव का विकास ऐसी कृषि-औद्योगिक इकाई के रूप में सोचा गया था, जहाँ कृषि और उद्योग के बीच श्रम का समुचित विभाजन रहेगा। स्वाभाविक रूप से इस चिंतनधारा में विज्ञान और प्रौद्योगिकी का उलझा हुआ प्रश्न भी सामने आ खड़ा हुआ। जयप्रकाश का विश्वास बना कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी की अनन्त सम्भावनाओं का सदुपयोग भारतवर्ष के विशाल-संख्य गाँवों के आर्थिक विकास में होना चाहिए। परन्तु प्रौद्योगिकी उनकी दृष्टि में साध्य नहीं, साधन मात्र थी। उसकी चरम सिद्धि "निश्चित मानवीय और सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति में, न कि मानवता की हड्डियों पर निर्मित एक नये भव्य स्मारक की प्रतिष्ठा में होनी चाहिए। प्रविधि इस प्रकार की हो कि वह समाज के निम्नतम व्यक्ति को उत्पादक आजीविका उपलब्ध करे, आर्थिक ढाँचे में अर्थ-शक्ति के केन्द्रीकरण को रोके, अभिनव निर्माण-जनित आनन्द का अजस्र स्रोत बने, मानव-व्यक्तित्व के विकास को नये आयाम प्रदान करे। जो प्रविधि मानव को मात्र एक उपकरण में परिणत कर दे, वह न तो मानव को व्यवस्था का केन्द्र स्वीकारती है और न उसे साध्य मानती है। हमारा विश्वास है कि विकेन्द्रीकरण प्रविधि की विकास-प्रक्रिया में बाधक नहीं, वरन् उत्प्रेरक है। उदाहरणार्थ—वैज्ञानिक विकास का चरम प्रतीक आणविक ऊर्जा, विकेन्द्रित प्रविधि के लिये आदर्श उपयोगी है।"[२०]

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जयप्रकाश जी ग्रामोद्योग के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने अनुभव

किया था कि "भारत में नगरीय उद्योगों को चाहे जितना बढ़ा लें, इससे ग्रामीण आर्थिक अवस्था में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं होगा।" उन्होंने यह भी चेतावनी दी कि ग्रामोद्योग का अर्थ ग्रामीण क्षेत्र में कोई एकाध बड़े उद्योग स्थापित करना नहीं है। उन्होंने स्पष्ट किया कि "इसका अर्थ देश भर के ग्रामीण क्षेत्र में समान रूप से उद्योग धन्धों का वितरण है। इसका अर्थ इतना भी सीमित नहीं होना चाहिए, जिसे आजकल 'ग्रामीण उद्योग धन्धा' या 'कृषि उद्योग' कहते हैं। वस्तुतः ग्रामीण क्षेत्र में अनेक प्रकार के उद्योग धन्धे स्थापित करने चाहिए।"[२१]

परिवर्तन की कुंजी—लोकशक्ति

हमने यह देखा कि सामाजिक परिवर्तन के ढंग की खोज में जयप्रकाश कम्युनिज्म से समाजवाद, उससे गाँधीवाद और अंततः सर्वोदय तक आ पहुँचे। उनकी बड़ी तीव्र आकांक्षा थी कि यह विशाल भारतीय समाज, जो सदियों से सोया पड़ा है, एक ऐसे आधुनिक समाज में रूपांतरित हो जाय, जहाँ सामाजिक-आर्थिक न्याय पर आधारित लोकतन्त्र का वर्चस्व हो। एक बार उन्होंने अपने स्वप्नों के समाज-चित्र को परिभाषित भी किया। उन्होंने कहा, "वह ऐसा लोकतन्त्रीय समाज होगा, जिसमें प्रत्येक नागरिक श्रमिक होगा और प्रत्येक नर-नारी में समानता होगी, सबको समान अवसर उपलब्ध होंगे, श्रमार्जन में इतना अन्तर नहीं रहेगा कि वर्ग-भेद खड़े हो जायें, जहाँ सारी सम्पत्ति का स्वामी समाज रहेगा, जहाँ प्रगति योजनाबद्ध होगी, श्रम आनन्द से समन्वित होगा, जीवन अधिक सम्पन्न, सम्पूर्ण और सुन्दर होगा।"[२२]

उनका लक्ष्य तो सदैव यही बना रहा, परन्तु जिस समस्या से वे अनेक मार्गों से चलकर जूझते रहे, वह यह थी कि यह लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जाय? अन्यान्य समसामयिक नेताओं में और उनमें इस साधना का ही अन्तर था। जयप्रकाश अधिकांश नेताओं से सर्वथा भिन्न इसलिये थे कि उन लोगों का विश्वास था—सत्ता ही इन प्रश्नों का उत्तर है। परन्तु जयप्रकाश ने इस मत को अस्वीकार किया कि अभीष्ट सामाजिक परिवर्तन लाने और समाज की सेवा करने के लिये उन्हें शासन पर अधिकार करना पड़ेगा। उन्होंने इस मत का भी समर्थन नहीं किया कि राजनीतिक दल इस भूमिका का निर्वाह ठीक प्रकार से कर सकते हैं, क्योंकि राजनीतिक दलों को तो सत्ता-संघर्ष, सत्ता-प्राप्ति और सत्ता भोगने में ही सर्वाधिक आनन्द और आकर्षण की अनुभूति होती है। वे जन-समाज को अधिकाधिक निष्क्रिय और परावलम्बी बनाते जाते हैं। दूसरी ओर, जयप्रकाश जी के मतानुसार होना यह चाहिए कि जन-समाज को अपने पैरों पर खड़े होने में समर्थ बनाया जाये और उपलब्ध साधनों का यथासंभव लाभ उठाकर वे स्वावलम्बन के बल पर अपने सभी लक्ष्यों की सिद्धि कर सकें।

जयप्रकाश जी विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा संचालित प्रतिरोध तथा प्रदर्शनों के हेतु उठाये गये जन-आंदोलनों से भी संतुष्ट नहीं थे, क्योंकि उनको लगा कि ये जन-समाज में अपने भाग्य-निर्माता सत्ताधीशों को मानने की वृत्ति उत्पन्न करते हैं। वे चाहते यह थे कि लोग अपने दुराग्रहों का त्याग करें और परस्पर सहयोग के आधार पर सहकार्य करें। उनके अनुसार यह केवल स्वयंसेवक लोग जनता के ही बीच में जाकर, उन्हीं के बीच रहकर, धैर्यपूर्वक उन्हें अपनी समस्याओं के लिये आप ही साधना करने की शिक्षा अपने जीवन की प्रेरणा द्वारा दे सकते हैं। वे बड़ी तीव्रता से यह अनुभव करते थे कि राष्ट्रीय पुनर्रचना के इस कार्य में विलम्ब करने का अवकाश नहीं है। उनके अनुसार इस कार्य के लिये स्वयंसेवकों की एक विशाल सेना की आवश्यकता है। गाँधी जी भी हर गाँव के लिये कम से कम एक ऐसा स्वयंसेवक अर्थात् ६ लाख लोक-सेवक चाहते थे। जयप्रकाश तीव्र वेदना के साथ पूछते हैं, "क्या हमारी ४० करोड़ की जनसंख्या में ६ लाख देशभक्त स्वयंसेवक नहीं मिलेंगे? क्या हमारे देश में युग की चुनौती को स्वीकार कर, देश के लिये अपनी सेवाएं समर्पित करने वाले पर्याप्त युवक-युवतियाँ नहीं हैं?"[२३]

जयप्रकाश जी ऐसे ग्राम-सेवकों—सक्रिय कार्यकर्त्ताओं—की आवश्यकता बड़ी तीव्रता से अनुभव करते थे, जो आदर्शों और समर्पण-भाव द्वारा प्रेरित हों, जिनके बिना भव्य से भव्य योजनाएँ भी सफल होने वाली नहीं हैं। वेतन-भोगी सरकारी या गैरसरकारी कर्मचारियों से इस प्रकार के गुणों, आदर्शों या ध्येय-वादी विचारों से प्रेरित होने की सामान्यतः आशा नहीं की जा सकती। लोक-शिक्षा और लोक-शक्ति-जागरण, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में, पुनर्निर्माण और विविध योजनाओं के क्रियान्वयन-हेतु नितान्त आवश्यक है। देश में सफल लोकतन्त्रीय व्यवस्था और प्रजातन्त्रीय प्रक्रिया के लिये भी इस प्रकार के सतत जागरूक जन-आंदोलन की आवश्यकता है। भारत की संसदीय लोकतन्त्र-प्रणाली के दोषों से जयप्रकाश से अधिक परिचित शायद कोई नहीं होगा, परन्तु उन्हें यह भी अनुभव होने लगा था कि जन-समाज की आस्था भी उससे डगमगा गयी है। उन्हें भय था कि इस अनास्था का परिणाम अधिनायकवाद का उदय होगा। इस भीषण संकट से बचाने के लिये वे ऐसा जन-जागरण-अभियान चाहते थे, जिसके द्वारा उचित प्रकार के लोग जन-प्रतिनिधि चुने जायें, भ्रष्ट लोगों को जनता-जनार्दन के दरबार में प्रस्तुत होना पड़े और एक चुनाव से दूसरे चुनाव तक लोकतन्त्रीय प्रणाली सम्यक पद्धति से चलती रहे। इसके लिये वे सच्चे, निष्ठावान लोगों का कोई एक संस्थाबद्ध ढाँचा चाहते थे, जिसमें पर्याप्त प्रतिनिधित्व तरुणों और विद्यार्थियों का हो। वे इस प्रकार की व्यवस्था की कोई निर्धारित रूपरेखा तो नहीं दे सके, यद्यपि उन्होंने चुनावों की देखभाल के लिये प्रत्येक मतदान-केन्द्र और प्रत्येक चुनाव-क्षेत्र के लिये इस प्रकार की समितियों के निर्माण का उल्लेख किया है। जयप्रकाश जी के इन सभी वक्तव्यों से एक ही ध्वनि आती है कि उनका दृढ़ विश्वास था कि न तो राजकीय सत्ता और न विभिन्न राजनीतिक दल समाज में आधारभूत परिवर्तन ला सकते हैं, केवल आदर्शवाद और दृढ़व्रती भावना से प्रेरित समर्पित कार्यकर्त्ताओं की संगठित कार्यशक्ति ही इस प्रकार का नितान्त अभीष्ट परिवर्तन ला सकती है।

जयप्रकाश जी के सार्वजनिक जीवन का अन्तिम भाग समग्र क्रांति आंदोलन को समर्पित हुआ। लोकतन्त्रीय व्यवस्था का क्रमिक तथा निश्चित ह्रास, सभी नैतिक और चारित्रिक मूल्यों की भीषण अवहेलना, न्याय और व्यवस्था का घोर पतन और राजनीतिक-आर्थिक अवस्था के प्रति जन-सामान्य का वृद्धिगत असंतोष—इन सब संकटों को देखकर जयप्रकाश जी ने निर्णय किया कि देश की रक्षा करने के लिये फिर एक भगीरथ-प्रयत्न करने का समय आ गया है। इसी हेतु उन्होंने 'सम्पूर्ण क्रांति' का उद्घोष किया।

समग्र क्रांति तथा एकात्म मानववाद

जयप्रकाश जी की समग्र क्रांति का अभीष्ट परिणाम नहीं हो पाया। उन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी सारे देश भर में प्रवास किया और धैर्यपूर्वक 'सम्पूर्ण क्रांति' की अवधारणा का स्वरूप लोगों को समझाया। इसने देशव्यापी जन-आंदोलन को जन्म दिया और उससे बड़ी आशाओं और आकांक्षाओं का उदय हुआ। स्वाभाविक ही था कि तात्कालिक राजसत्ता की जड़ें हिल उठीं और उसने आत्मरक्षा के लिये आपातकाल की घोषणा का सहारा लिया। यह घटनाचक्र देश को एक पूर्णतः अप्रत्याशित दिशा में ले गया। केन्द्र और राज्य में जनता सरकार की स्थापना के बाद और जयप्रकाश जी के स्वास्थ्य में अत्यधिक ह्रास होने के कारण समग्र क्रांति की गति अवरुद्ध हो गयी। इससे भी अधिक दुःखान्त घटनाएं आगे हुईं। जनता सरकार अभीष्ट परिवर्तन का साधन बनने के स्थान पर सत्ता-संघर्ष का अखाड़ा बन गयी। सारी आशाएं धूलि-धूसरित हो गयीं। तो क्या जयप्रकाश जी का समग्र क्रांति आंदोलन असफल हो गया है? अथवा क्या उसमें राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य के बीज विद्यमान हैं?

विवेक और सद्भावना रहे तो जयप्रकाश जी की 'सम्पूर्ण क्रांति' और पं० दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद का दर्शन एक दूसरे के सम्पूरक हो सकते हैं। ऊपरी दृष्टि से दोनों में विरोध है और उनका समन्वय कठिन है। परन्तु ऐसी दृष्टि में भ्रम

अधिक और वास्तविकता कम है। शब्द 'सम्पूर्ण क्रांति' में हिंसा और अतीत के मूल्यों तथा आदर्शों के प्रति नितान्त तिरस्कार की गन्ध आ सकती है। परन्तु यह सच्चाई नहीं है। जयप्रकाश जी के विचारों में हिंसा के लिये कहीं स्थान नहीं था। तथ्य यह है कि उन्होंने बड़े मनोयोग से यह समझाने का प्रयत्न किया कि "यह क्रांति शांतिपूर्वक लानी है और समाज की लोकतन्त्रीय व्यवस्था एवं प्रजातांत्रिक जीवन-पद्धति को हानि पहुंचाये बिना लानी है।" 'सम्पूर्ण क्रांति' से जयप्रकाश का तात्पर्य हमारी सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत मूल्यों का विनाश कभी नहीं था। उनका मंतव्य था समाज-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सर्वतोमुखी परिवर्तन, परन्तु अतीत से सूत्र तोड़कर नितान्त अभिनव प्रारम्भ नहीं। कम्युनिस्टों के विपरीत, जयप्रकाश जी की भारतीय आध्यात्मिक चेतना और नैतिक मूल्यों में पूर्ण श्रद्धा थी। दीर्घकाल से समाज-जीवन को जर्जर करने वाली कुरीतियों और दोषों को निर्मूल कर, अनेक बाह्य व्यवस्थाओं में सर्वांगीण परिवर्तन का आग्रह तो उनका था, परन्तु अपने सांस्कृतिक मूल्यों के तिरस्कार या विनाश की कल्पना भी वे नहीं कर सकते थे। यह तो सच है कि जिस प्रकार से दीनदयाल जी ने संस्कृति पर आग्रह किया है, वैसा जयप्रकाश जी ने नहीं किया, परन्तु वे इतने समग्ररूपेण गांधीवादी थे कि उनकी किसी धारणा में नैतिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक पक्ष का अभाव हो ही नहीं सकता। एकात्म मानववाद भी तो शाश्वत भारतीय मूल्यों का युगीन आवश्यकताओं के अनुकूल पुनर्कथन मात्र ही है, परन्तु यह कहना सत्य से कोसों दूर है कि उसका सम्बन्ध केवल संस्कृति मात्र से है। हमारे सांस्कृतिक मूल्यों और परम्पराओं के अनुसार ही वह भी एक न्यायपूर्ण, आधुनिक और पूर्णतः समन्वित एकात्म समाज के निर्माण का आग्रह करता है और यही है 'सम्पूर्ण क्रांति' और 'एकात्म मानववाद' की सम्पूरक भूमिका की परिकल्पना।

जयप्रकाश जी ने समग्र परिवर्तन की समस्या को अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य का रूप देने का प्रयत्न किया। एकात्म मानववाद इस आवश्यकता की तीव्रता को आत्मसात करके लाभान्वित होगा। समाज की ज्वलन्त समस्याएं त्वरित निदान और उपाय की पुकार कर रही हैं। दीनदयाल जी भी परिवर्तन के प्रबल समर्थक थे और रूढ़िवाद में उनका तनिक भी विश्वास नहीं था। उन्होंने भी निर्भ्रान्त शब्दों में कहा था, "हमें अनेक रूढ़ियाँ समाप्त करनी होंगी। जो मानव के विकास और राष्ट्र की एकात्मता की वृद्धि में पोषक हो, वह हम करेंगे और जो बाधक हो, वह हटायेंगे।"[२४]

मानव की परिकल्पना के सम्बन्ध में, जिसके सामान्यतः भौतिक और आध्यात्मिक—दो आयाम माने जा सकते हैं, जयप्रकाश जी तथा दीनदयाल जी एकमत हैं। यह सत्य है कि दीनदयाल जी ने इस परिकल्पना का बड़े विशद रूप में विवेचन किया और वेदान्त-दर्शन की तर्कसंगत भूमि पर उसे अधिष्ठित किया। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का समंजन तथा दोनों के हित-सम्बन्धों की परस्पराव-लम्बी धारणाएं भी निरपवाद रूप से अभिन्न हैं। जयप्रकाश जी का वक्तव्य कि "जिस समाज का व्यक्ति सदस्य है, उस सम्पूर्ण समाज के हित के लिये स्वयंस्वीकृत अनुशासन सहित समर्पण करने में दोनों का ही कल्याण होता है", एक प्रकार से दीनदयाल जी के इस पूर्व-कथन की ही प्रतिध्वनि प्रतीत होता है कि "हम व्यक्ति के विभिन्न रूपों तथा समाज की अनेक संस्थाओं में अनिवार्यतः स्थायी संघर्ष या हित-विरोध नहीं मानते।"[२५]

एक सुसंगत प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि क्या दीनदयाल जी सामाजिक परिवर्तन के लिये जयप्रकाश जी के जन-आंदोलन को साधन रूप में स्वीकार करते? यद्यपि यह सर्वविदित है कि दीनदयाल जी विशेष शिकायतों को दूर कराने के लिये जन-आंदोलनों का समर्थन करते थे, यही नहीं, कई ऐसे आंदोलनों का सफल नेतृत्व भी उन्होंने किया था, फिर भी इसमें संदेह है कि समाज के सर्वतोमुखी परिवर्तन के लिये वे देशव्यापी संघर्ष का अनुमोदन करते। जन-आंदोलन 'उत्पातों' के समान सहज ही में नियंत्रणहीन हो जाते हैं और फिर वे अभीष्ट दिशा के स्थान पर स्वेच्छा-

चारिता का मार्ग अपना बैठते हैं। यदि बात उनपर छोड़ दी जाती, तो वे अधिक सावधानी से पग उठाते और सुसंगठित, अनुशासनबद्ध कार्यकर्त्ताओं द्वारा व्यवस्थित रूप से संचालित जन-आंदोलन को ही अपनाते। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि वे अनिश्चित काल के लिये उसे स्थगित किये चले जाते। यह सुनिश्चित है कि यदि वे जीवित होते तो अवश्य ही जयप्रकाश जी द्वारा छेड़े हुए आंदोलन में हाथ बंटाते और उसे शक्ति प्रदान करते।

इतना अवश्य निर्विवाद है कि जयप्रकाश नारायण और दीनदयाल जी की अधूरी आकांक्षाओं और उनके अपूर्त ध्येयों की पूर्ति उनके अनुगामियों द्वारा परस्पर निकट आकर, एक दूसरे को सद्भावना से समझकर और राष्ट्र-जीवन में वास्तविक रूप में संपूरक भूमिकाएं निभाकर ही साकार हो सकती है।

—निदेशक, दीनदयाल शोधसंस्थान,
नयी दिल्ली

संदर्भ :

१. पॉलिटिक्स इन इंडिया, पृ० १६६
२. फ्रीडम फर्स्ट, १९५२
३. टोटल रिवॉल्यूशन, भूमिका, पृ० १
४. टोटल रिवॉल्यूशन, खण्ड—१, पृ० १२९
५. वही, पृ० १३०
६. वही, पृ० १६६
७. वही, पृ० १३४
८. वही, पृ० १९९
९. वही, पृ० ९८
१०. वही, पृ० ९६
११. वही, पृ० ९७
१२. वही, पृ० १४७
१३. वही, पृ० १४७
१४. वही, पृ० २२९
१५. वही, पृ० १४६
१६. वही, पृ० १९९
१७. टोटल रिवॉल्यूशन, खण्ड ३, पृ० ८५
१८. वही, पृ० ९२
१९. टोटल रिवॉल्यूशन, खण्ड १, पृ० २२५
२०. वही, खण्ड ३, पृ० ८२
२१. वही, पृ० १०३-४
२२. टोटल रिवॉल्यूशन, खण्ड १, पृ० ९४
२३. वही, पृ० १६५
२४. इंटिग्रल अप्रोच, पृष्ठ ७६ (एकात्म-दर्शन, पृ० ७२)
२५. इंटिग्रल अप्रोच, पृष्ठ ४० (एकात्म-दर्शन, पृ० ३८)

यक्ष की घड़ी

एक व्यक्ति ने एक यक्ष (जिन्न) साध लिया था। अब वह जो भी आदेश देता, यक्ष तुरन्त ही उसकी पूर्ति कर देता। एक दिन उस व्यक्ति को समय जानने के लिये एक अच्छी घड़ी पाने की इच्छा हुई। उसने यक्ष से सुन्दर सोने की घड़ी मांगी। यक्ष ने तुरन्त एक जगमगाती सोने की घड़ी दे दी। परन्तु यह क्या ? वह चलती तो थी ही नहीं, और थी भी बहुत भारी ! वह मनुष्य बोला—मैं घड़ी में यह देखना चाहता हूँ कि समय कितना हुआ है ? यक्ष क्षण भर में किसी और की घड़ी में समय देख आया और इस घड़ी में भी उतने ही बजा दिये, परन्तु सुइयाँ फिर भी अचल ही बनी रहीं। मनुष्य ने यक्ष से पूछा—यह चलती क्यों नहीं ? इसके अन्दर उपकरण (पुर्जे) भी हैं या ऐसे ही धातु का टुकड़ा उठा कर दे दिया ? यक्ष बोला—मैं जैसी वस्तु देखता हूँ, वैसी ही बना देता हूँ। अन्य लोग जैसे रूप-रंग की घड़ी हाथ में बांधे रहते हैं, उससे भी सुन्दर घड़ी मैंने तुम्हें दी है। अब बाकी अन्दर के बखेड़े और चलना न चलना मैं क्या जानूँ ?

उस यक्ष जैसे ही हैं हमारे कुछ शब्दशास्त्री—भाषा-विज्ञानी। उन्होंने अंग्रेजी में 'एकेडमी' शब्द देखा तो हिन्दी में बना दिया अकादमी, अंग्रेजी में देखा 'टैक्नीक', तो हिन्दी में बना दिया तकनीक। न शब्द-व्युत्पत्ति का बखेड़ा, न अर्थ-निष्पत्ति की झंझट। हो गयी न यक्ष की घड़ी !

रूपानुशासन

शिक्षा का नया सत्र प्रारम्भ ही हुआ था। सामान्य परिचय के बीच प्राध्यापक महोदय ने अन्य प्रान्त से आये कुछ छात्रों से पूछा—"आप लोग अई दिल्ली की ओर भी घूमने-घामने गए ?"

"मैं गआ तो था", एक छात्र बोला, "पर अभी यहाँ नआ-नआ ही हूँ, इस कारण नई दिल्ली कहाँ से प्रारम्भ होती है, जानता नहीं।"

'भई, ये गआ नआ कौन से शब्द हुये ?"

"श्रीमन् ! गए का एकवचन गआ और नई का पुल्लिग नआ हुआ।"

डा० आत्मानन्द मिश्र

शिक्षा की बदलती अवधारणाएँ

प्रायः कहा जाता है कि शिक्षा के बढ़ने से सभ्यता का विकास होता है, और इसके विपरीत भी कहा जाता है कि सभ्यता के बढ़ने के साथ शिक्षा का विकास होता रहता है। जो कुछ भी हो, किन्तु इससे एक बात उभर कर आती है कि शिक्षा और सभ्यता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह बात शिक्षा की प्रक्रिया से भी स्पष्ट होती है। शिशु में कुछ क्षमताएं होती हैं, आवेग होते हैं और अज्ञानता होती है। ये लक्षण असभ्य व्यक्ति के कहे जाते हैं। शिक्षा इनको क्रमशः योग्यताओं, आदर्शों और ज्ञान में परिवर्तित कर देती है और इन परिवर्तनों से शिशु सभ्य समाज का उपयोगी सदस्य बन जाता है। इसी से कहा जाता है कि शिक्षा का कार्य व्यक्ति को सभ्य बनाना है।

शिक्षा और सभ्यता

इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दो महायुद्धों के होने से ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य में सभ्यता के गुण दृढ़ता से विकसित नहीं हो पाये हैं। इन भीषण विश्वयुद्धों की विभीषिकाओं, जघन्यताओ, और पाशविकताओं ने किसी सीमा तक यह सिद्ध कर दिया है कि अपने को सभ्य बताने वाला मनुष्य कभी भी बर्बरता की ओर पलट सकता है। बमवर्षक विमानों और प्रक्षेपास्त्रों से लोगों के शांतिपूर्ण जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देना, हिरोशिमा और नागासाकी में परमाणु बम गिरा कर वीभत्स नर-संहार करना किसी बर्बरता से कम नहीं है। जब मानव जाति के पथ-प्रदर्शक कहे जाने वाले नेतागण भले-बुरे का भेद और साध्य-साधन का औचित्य भुलाकर इतने विवेक-शून्य हो गये तो उनके कृत्यों का प्रभाव सामान्य जन-मानस पर तो पड़ना ही था। आज जो राग-द्वेष, क्रूरता, कदाचार और अमानुषिकता विश्व में फैली है, वह उसी का दुष्परिणाम है।

मनुष्य अब यह सोचने लगा है कि शिक्षा ने उसे बबरता से निकाल कर सभ्यता के सोपान पर तो चढ़ाया, पर शिक्षा का कोई स्थायी प्रभाव उस पर नहीं हो सका है। शिक्षा उसमें उदात्त मानवीय भावनाएं दृढ़ करने और सभ्य आचरण की पुष्ट आदतें डालने में असफल रही है। वह उसकी पाशविक

शक्तियों को समाप्त कर दैवी प्रवृत्तियों को स्थायी नहीं बना सकी है। वह उसके चरित्र और नैतिकता को इतनी दृढ़ता नहीं प्रदान कर सकी है कि विषम परिस्थितियों में भी वह सन्मार्ग का वरण कर सके। इसी से शिक्षा में अग्रणी कहलाने वाले लोग भी, अपने शैक्षणिक पिछड़ेपन से आक्रान्त हैं। अतएव अब लोग समझने लगे हैं कि शिक्षा अपने कर्त्तव्य से च्युत हो चुकी है, उसकी आधारभूत अवधारणाओं के पुनस्स्थापन की आवश्यकता है। या फिर ज़ौक साहब की बात सच है कि—

आदमीयत और शै है, इल्म है कुछ और चीज़ ।
कितना तोते को पढ़ाया पर वो हैवां रह गया ।।

'इल्म' यदि मनुष्यता नहीं पैदा कर सकता, तो ऐसी इल्मियत का क्या होगा ? डाक्टर फास्ट, जैकेल हाइड या फैगिन साहब बड़े इल्मदां थे, परन्तु उनकी इल्म-सिल्फी—पिशाचविद्या—से किसको लाभ हुआ ? यदि शिक्षा व्यक्ति को सभ्य बनाने का बीड़ा उठाकर परीक्षा-काल में उसमें असभ्यता, बर्बरता के लक्षण प्रदर्शित होने दे, तो ऐसी शिक्षा का आधार ही संदिग्ध हो जाता है। ऐसे प्रश्न आज की शिक्षा की मूल अवधारणाओं में परिवर्तन करने की ओर इंगित करते हैं।

विज्ञान और प्रविधि (तकनीक) की प्रगति

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जो दूसरी महत्वपूर्ण घटना घटी है, वह है विज्ञान और प्रविधि में द्रुतगति से प्रगति। उसने ज्ञान का विस्फोट कर दिया है, सूचनाओं में क्रांति ला दी है और पुरानी मान्यताओं को समाप्तप्राय कर दिया है। उससे हमारी सामाजिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय संरचनाओं में भारी परिवर्तन हुआ है। संचार के साधन रेडियो, टेलीविजन, वायुयान आदि इतने द्रुतगामी हैं कि सारा विश्व सिमट कर छोटा हो गया है। ऐसे सामीप्य के कारण विश्व के लोगों में एक दूसरे की जानकारी बढ़ी है और अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध गहरे हुए हैं। ऐसे नैकट्य के संबंधों के विकास में केवल आर्थिक कारक ही नहीं हैं, वरन् प्राविधिक, राजनीतिक तथा सामाजिक कारकों का भी बड़ा योगदान रहा है।

प्राविधिक कारक

मानव-जीवन के हर एक क्षेत्र में विज्ञान और प्रविधि (तकनीक) ने अभूतपूर्व आविष्कार किये हैं, जिनकी जानकारी प्रत्येक देश अपनी उन्नति के लिये करना चाहता है। वह उनके विशेषज्ञों की सहायता और विशिष्ट विधियों के कार्य-ज्ञान के लिये दूसरे देशों पर निर्भर होता है। मनुष्य ने अणु का विस्फोट कर इतनी अपार शक्ति प्राप्त कर ली है जो देवताओं के योग्य है, किन्तु वह उससे बच्चों सरीखा खिलवाड़ कर रहा है। उसका उपयोग मानव-कल्याण और जनसंहार के पलड़ों में झूल रहा है। यदि कहीं भी उसमें एक चिनगारी लग गयी, तो अल्पातिअल्प समय में आग सर्वत्र फैल जायेगी और सारा संसार नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। कुशल रही कि सूक्ष्म प्रविधि और नियंत्रित ऊर्जा का उपयोग वह अन्तरिक्ष की ओर उड़ानें भरने में करने लगा। इस संदर्भ में भी कहा जाता है कि मनुष्य किसी अन्य नक्षत्र में अपने से भी अच्छी सभ्यता ढूंढने निकल पड़ा है। अपनी सभ्यता की पराकाष्ठा को देखकर वह घबरा उठा है और उसमें परिवर्तन करने का इच्छुक जान पड़ता है। इसके लिये भी शिक्षा की भूमिका निश्चित करनी पड़ेगी।

राजनीतिक कारक

संसार के लोगों के समीप आने के कारण हमारे मन में विभिन्न देशों के निवासियों के प्रति अभिवृत्ति, अभिरुचि और संवेदना का विकास हुआ है। किन्तु इन देशों की सरकारों की विभिन्न राजनीतिक विचारधाराएं हैं, जिससे विरोधी दृष्टिकोण उत्पन्न हुए हैं। आज संसार के राष्ट्र खेमों में बंट गये हैं, जिनके बंद द्वार, लौह-आवरण तथा अकारण संशय एवं भय एक दूसरे के प्रति अविश्वास, संदेह और ईर्ष्या उत्पन्न करते हैं। यदि बिना रोक-टोक ऐसी भावनाओं को बढ़ने दिया गया, तो एक दिन वे संसार को अपने विस्फोट से उड़ा देंगी। इसलिये विरोधी विचारधाराओं के लोगों में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का विचार

विकसित करना होगा। उनमें अन्तरराष्ट्रीय सद्भाव जाग्रत करना होगा, जिससे वे आपस में न झगड़ कर मानव मात्र के शत्रुओं, जैसे—दरिद्रता, रोग, भुखमरी और अज्ञानता से लड़ सकें। इसी बात की ओर संकेत करते हुए एच० जी० वेल्स ने कहा था कि आज "शिक्षा और विपत्ति के बीच घुड़दौड़ मची है (देयर इज ए रेस बिट्वीन एजूकेशन एण्ड कैटेस्ट्राफी)।" इस दुर्घटना को बचाने के लिये शिक्षा को कुछ करना होगा, क्योंकि यूनेस्को का विश्वास है कि 'युद्ध मनुष्यों के मस्तिष्कों में उपजता है, अतएव मनुष्यों के मस्तिष्कों में ही शान्ति की किलेबन्दी करनी होगी।"

सामाजिक कारक

विश्व के अनेक देशों ने लोकतंत्र की प्रणाली स्वीकार की है। भारतवर्ष ने अपने संविधान में लोकतांत्रिक गणराज्य होने की घोषणा की है। मूलतः लोकतंत्र एक प्रगतिशील समाज में जीवन-यापन की पद्धति है। यह समाज जनता के वर्गों के स्वतंत्रतापूर्वक मिलने-जुलने और विचारों तथा अनुभवों के अधिकाधिक आदान-प्रदान पर बल देता है। इससे परिवर्तन की आकांक्षा उत्पन्न होती है। ऐसा समाज केवल बदलता ही नहीं है, बल्कि ऐसे परिवर्तन का आदर्श भी संजोये रखता है, जो उसे उन्नत बना सके। ऐसे समाज में लचीला समायोजन बड़ा आवश्यक होता है। अतएव शिक्षा की लोकतांत्रिक संकल्पना में उत्प्रेरकों की भिन्नता को, जिनके प्रति लोग प्रतिक्रिया करेंगे, ध्यान में रखकर व्यक्ति को बिना भ्रमित या विस्मित हुए सामंजस्य तथा पुनस्सामंजस्य के लिये तैयार करना भी सम्मिलित है। इसलिये शिक्षा अब व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों में उसकी निजी रुचि उत्पन्न कर उन्हें नियंत्रित करने और स्वयं उपक्रम करने का ऐसा मानसिक स्वभाव बनाने का प्रयत्न करेगी कि वह सामाजिक परिवर्तनों को, बिना कोई अराजकता फैलाये, होने दे।

वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक प्रगति ने समाज के ढांचे में परिवर्तन कर दिया है। जैसे-जैसे यह प्रगति होती रहेगी, वैसे-वैसे उसके ढांचे में परिवर्तन होता रहेगा। आधुनिक समय में औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के कारण सामाजिक जीवन के प्रतिरूपों और आवश्यकताओं में परिवर्तन हो गया है और होता रहेगा। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में जीवन-पद्धति ग्रामीण और सरल थी, जिसमें एकीभाव और पड़ोसीपन की भावना से जीवन में आर्थिक, सामाजिक तथा भौगोलिक गठबंधन था। किन्तु उद्योग-प्रधान देश में आवागमन के द्रुत साधनों से भौगोलिक सीमाएं टूट जाती हैं, बढ़ते हुए उत्पादन को नये-नये बाजारों की एषणा रहती है और दूरस्थ स्थानों से सम्पर्क स्थापित होता है। लोग व्यापारिक मांग और पूर्ति की परिधि में आ जाते हैं; जो नहीं आ पाते, वे अलग-विलग हो जाते हैं। जनसंख्या के स्थानान्तरण से क्षेत्रीयता की विशेषताएं उनके साथ आ जाती हैं और औद्योगिक समाजों की पारस्परिक विषमता बढ़ जाती है। इस प्रकार एक नये समाज का निर्माण होता है, जिसमें आर्थिक तत्त्वों की प्रधानता होती है और सामाजिक तथा भाषाई विभिन्नताएं बिखर-बंट जाती हैं। लोग अधिक व्यक्तिनिष्ठ हो जाते हैं और सामाजिकता के तंतु टूटने लगते हैं। समाज, जो पहले जाति और स्थल के आधार पर संगठित होते थे, अब उद्योग और व्यापार के आधार पर निर्मित होते हैं। इससे परिवार का विघटन हो जाता है और व्यष्टिपरक वर्ग अस्तित्व में आ जाते हैं, जिनकी कार्यशील अपकेन्द्री शक्ति के कारण समाज की सुदृढ़ता विनष्ट हो जाती है।

शिक्षा समाज का कर्म कही जाती है, अतः परिवर्तनशील समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करना उसका धर्म होता है। किन्तु शिक्षा के कुछ मूलभूत आधार होते हैं, जो उसे स्थायित्व प्रदान करते हैं। अतएव समाज के बदलते तत्त्वों को ध्यान में रखकर उसकी इस प्रकार व्यवस्था की जाती है कि वह अपने में परिवर्तित आवश्यकताओं को समाहित कर ले। उसे भविष्य में ऐसे शिक्षित व्यक्ति उत्पन्न करने होंगे, जो इन वैज्ञानिक एवं प्राविधिक परिवर्तनों का लाभ समाज को दे सकें। अब शिक्षा को भविष्य के ऐसे अनिश्चित समाज के लिये, जिसका आज कोई अस्तित्व नहीं है और कल का सही-सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता, व्यक्ति तैयार करने होंगे। वे व्यक्ति ऐसे होंगे, जिनमें समाज की परिवर्तनशील आवश्यकताओं

से निरन्तर समायोजन करने की क्षमता हो। आज की शिक्षा में इसी समायोजन-क्षमता की कमी होने के कारण शिक्षालयों से निकलने वाले छात्र कुछ समाजों में अग्राह्य हो रहे हैं और जीविकाहीनता बढ़ रही है, जिससे आर्थिक अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो रही है।

शिक्षा की जीवन से प्रासंगिकता

उपर्युक्त कारणों से कहा जा रहा है कि शिक्षा जीवन से प्रसंगोचित तथा संबद्ध नहीं है, अर्थात् जीवन में जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उन्हें उत्पन्न करने में शिक्षा समर्थ नहीं है। प्रासंगिकता (रिलेवेन्स) से तात्पर्य यह है कि हमारा जीवन जैसा कुछ रहा है, जैसा वह है और जैसा कुछ वह भविष्य में होगा, उससे शिक्षा सम्बद्ध हो। इससे, जिन्हें शिक्षा दी जाती है, वे यह अनुभव करें कि इस प्रक्रिया का एक प्रयोजन है और जो कुछ भी वे सीखते हैं, वह उनके लिये लाभदायक है। पढ़ने में बच्चों का कुछ उद्देश्य होता है, शिक्षा उस उद्देश्य की पूर्ति करती है। जो कुछ भी विद्यालय में पढ़ाया जाता है, वह बच्चों के जीवन से सम्बद्ध हो, वह व्यक्ति और समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

आज की शिक्षा से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह बौद्धिक चेतना को उद्बोधित करने तक ही सीमित रहता है। इस ज्ञान का उपयोग जीवन-परिस्थितियों में नहीं हो पाता। उसके प्रयोग के लिये क्रियात्मक कौशल और मूल्यांकन के लिये संवेदनशीलता आवश्यक होती है, अतः ऐसे कौशलों और संवेदनों के प्रशिक्षण पर बल देना चाहिए। व्यावसायिक शिक्षा में तो ज्ञान की व्यावहारिकता तथा प्रयोगात्मकता और भी आवश्यक होती है, जिससे छात्र जो सीखे, उसका प्रयोग वास्तविक परिस्थितियों में करता रहे। इसीलिये आज निरी साहित्यिक एवं सैद्धान्तिक शिक्षा की आलोचना की जा रही है और उसकी जीवन में प्रासंगिकता एवं सम्बद्धता पर बल दिया जा रहा है।

आधुनिक समय में ज्ञान-शक्ति इतनी बढ़ गयी है कि 'अनन्त शास्त्रं बहुलाश्चविद्या' की समस्या उठ खड़ी हुई है। उसमें से सावधानीपूर्वक चयन कर जीवनोपयोगी सामग्री ही पाठ्यक्रम में रखनी होगी, जिसमें 'हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्' की युक्ति ही फलप्रद होगी। इस चयन में डा० ह्वाइटहैड की चेतावनी का ध्यान रखना होगा कि किसी निष्क्रिय विचार (इनर्ट आइडिया) तथा खंड-खंड ज्ञान (फ्रैगमेंटरी नालेज) का उसमें समावेश न होने पाये। उनका अभिप्राय ऐसे ज्ञान या विचार से है, जिसे मस्तिष्क ग्रहण तो कर लेता है, किन्तु उसका न तो कोई उपयोग कर सकता है, न उसका परीक्षण कर सकता है।[1]

अधिकारितंत्र (नौकरशाही) के अन्तर्गत परम्परा की जकड़ में चलने वाले विद्यालयों की आधारशिला को आज युवा-आक्रोश और शिक्षकों के प्रश्नों ने झकझोर दिया है। इसीलिये इवान इलिच, पाल गुडमैन तथा एवरेट रीमर जैसे लेखकों ने समाज को विद्यालय-विहीन बनाने की प्रबल आवाज उठायी है। इससे पता चलता है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली आधुनिक जीवन से कितनी दूर, असम्बद्ध और अप्रासंगिक हो चुकी है कि लोग उसके प्रचलित रूप को समाप्त करने पर ही तुले हैं।

आजीवन शिक्षा

इन बदली परिस्थितियों के उपयुक्त शिक्षा-व्यवस्था की संस्तुति करने के लिये यूनेस्को ने एडगर फार की अध्यक्षता में एक अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा-आयोग नियुक्त किया था, जिसका प्रतिवेदन 'लर्निंग टु बी' नाम से सन् १९७० में प्रकाशित हुआ है। इसने आजीवन शिक्षा की एक नयी अवधारणा प्रस्तुत की है, जो शिक्षा को केवल बाल्यावस्था और किशोरावस्था से ही सम्बन्धित न मानकर उसे एक जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया बताती है। जिस बात को हमारे देश में महात्मा गांधी ने 'नयी तालीम' की संकल्पना में तीस वर्ष पूर्व कह दिया था, उसकी कल्पना पाश्चात्य देशों में सन् १९७० के अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा-वर्ष में की गयी। इस्लाम ने 'पालने से कब्र तक की तालीम' की सम्मति दी थी और महाभारत में शिक्षा का प्रारम्भ

गर्भाशय से ही माना गया था। किन्तु विश्व ने अब स्वीकार किया है कि शिक्षा केवल शिक्षालयों में ही नहीं प्राप्त होती, न वह शिक्षालय छोड़ते ही समाप्त होती है, वरन् उसकी प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है।

'लर्निंग टु बी' में आजीवन शिक्षा के लिये अनेकानेक पाठ्यक्रमों को उपलब्ध कराने की अनुशंसा की गयी है, जिससे हर एक स्थिति और आयु का व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार उनसे लाभ उठा सके। शिशु-शिक्षा के पाठ्यक्रम में शारीरिक और मानसिक विकास पर बल दिया जायेगा। उसके बाद की आधारभूत शिक्षा बहुमुखी होगी, जो मूल ज्ञान देकर संसार को देखने और समझने में सहायता करेगी और बालकों को स्व-प्रशिक्षण (सेल्फ ट्रेनिंग) की ओर उत्प्रेरित करेगी। उससे प्रेक्षण, निर्णयन, विवेक जैसी शक्तियों का विकास होगा और ऐसी भावना उत्पन्न होगी कि प्रत्येक व्यक्ति समुदाय का अंग है, जिसका सर्जनात्मक उत्तरदायित्व उसी पर है। यह शिक्षा न केवल बालकों या किशोरों के लिये होगी, वरन् ऐसे प्रौढ़ों के लिये भी, जो किसी भी आयु में उसकी आवश्यकता अनुभव करें। उच्च शिक्षा छात्रों को विश्वविद्यालयों के लिये तैयार नहीं करेगी, प्रत्युत् व्यावसायिक एवं वृत्तिक शिक्षा की व्यवस्था करेगी, जिससे वे सक्रिय जीवन में भाग ले सकें। यह अनेक प्रकार की होगी, जिसे किसी भी आयु पर व्यक्ति अपनी उन्नति और विकास के लिये प्राप्त कर सकेगा।

शिक्षा देने के लिये औपचारिक और अनौपचारिक, सभी प्रकार के साधनों का उपयोग किया जायेगा। सभी संस्थाओं तथा आर्थिक-सामाजिक क्रियाओं को शिक्षात्मक कार्यों के लिये जोता जायेगा। सांध्य-कक्षाएं, पत्राचार-पाठ्यक्रम, अंशकालीन विद्यालय, निरन्तर (कंटीन्यूएशन) शिक्षा, स्व-प्रशिक्षण आदि की बड़े परिमाण में व्यवस्था की जायेगी। उनसे कोई भी व्यक्ति किसी भी आयु में किसी भी प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकेगा। प्रचलित शिक्षा के विभिन्न विषयानुशासनों (डिसिप्लिन्स), पाठ्यक्रमों, सोपानों तथा अविधिक और सविधिक शिक्षा के भेदों को समाप्त कर दिया जायेगा।

नवयुवकों की शिक्षा उन्हें किसी व्यापार या वृत्तिका में प्रशिक्षण देने के लिये कम, प्रत्युत् विभिन्न प्रकार के कार्यों-आजीविकाओं से अनुकूलन करने के लिये अधिक होगी। वह उनकी क्षमताओं को बराबर विकसित करती रहेगी, जिससे वे विकासशील उत्पादन-विधियों और परिवर्तनशील कार्य-परिस्थितियों से पग मिलाकर चलते रहें और उनमें व्यवसायों या आजीविकाओं की इष्टतम गतिशीलता (मोबिलिटी) आ जाये, जिससे एक वृत्तिका या उसकी शाखा से दूसरी को बदलने में सुविधा रहे। किसी एक विधि या यन्त्र का प्रशिक्षण देने से वह उनके बदलने पर अनुपयोगी हो जायेगा। इसीलिये सामान्य प्राविधिक ज्ञान और उसकी व्यावहारिकता एवं समायोजनशीलता पर विशेष बल देना आवश्यक होगा। यदि उसे कभी किसी विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता हुई, जिसके जीवन काल में अनेक अवसर आ सकते हैं, तो वह किसी अंशकालीन शिक्षा-माध्यम से उसे प्राप्त कर लेगा और अपने को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बना लेगा।[२]

इस बात की चेतावनी डा० ह्वाइटहैड ने बहुत पहले ही दे दी थी कि अब किसी ऐसी विशिष्ट शिक्षा के लिये प्रशिक्षण देना निरर्थक होगा, जो बालक के इक्कीस वर्षीय वयस्क होते-होते बदल जायेगी या समाप्त हो जायेगी। आज के प्रबंधकों, शिल्पियों और कार्मिकों को सतत परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करने के लिये तैयार करना चाहिए।[३] उदाहरणार्थ—कोयले की खानों में कार्य करने और इस्पात की छड़ों को ढालने की कार्य-प्रणाली में गत बीस वर्षों में भारी परिवर्तन हो गया है। हाथ से काम करने के स्थान पर अब स्वचालित यन्त्रों से काम होने लगा है, जिससे उनके श्रमिकों को बेकार हो जाना पड़ा, क्योंकि वे परिवर्तित परिस्थितियों से समायोजन करने में असमर्थ रहे।

शिक्षा एक उत्पादक क्रिया

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया मानी जाती रही है,

जिसका उद्देश्य व्यक्ति की मानसिक शक्तियों और चारित्रिक गुणों का उन्नयन करके उसे समाज में सम्पूर्णता से जीवन-यापन करने योग्य बनाना रहा है। इन व्यावहारिक लाभों के परे शिक्षा का स्वयं का मूल्य रहा है और स्वयं के लिये उसकी मांग की जाती रही है। यह शिक्षा का सांस्कृतिक पक्ष कहलाता है, जिसमें वह उपभोग की वस्तु मानी जाती है। किन्तु शिक्षा की इस धारणा में अब परिवर्तन हुआ है और वह उपभोग (कंजम्प्शन) के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण उत्पादक (प्रोडक्टिव) क्रिया भी मानी जाने लगी है।

बात यह है कि राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विकास करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उनमें मानवीय साधन बड़े महत्व का है। प्रत्येक प्रकार के राष्ट्रीय प्रयत्न में जन-शक्ति आवश्यक होती है। इस जन-शक्ति की निपुणता पर प्रयत्न की सफलता निर्भर रहती है। जनशक्ति को अधिकाधिक निपुण बनाने के लिये यदि उसकी शिक्षा और प्राविधिक (तकनीकी) प्रशिक्षण-हेतु धन व्यय नहीं किया जाता तो राष्ट्रीय प्रगति में अवरोध आ जाता है। अतः, अपने समस्त विविध रूपों में शिक्षा वह उपकरण है, जिसके द्वारा राष्ट्र अपने वर्तमान स्वरूप को आकांक्षित प्रतिरूप में बदल सकता है। शिक्षा मनुष्य की निपुणता, कार्य-कुशलता और योग्यताओं को अधिकतम विकसित कर उत्पादन की मात्रा को बढ़ाती है। इसीलिये शिक्षा को अब एक उत्पादक क्रिया माना जाता है।[४]

शिक्षा के इस महत्व को स्पष्ट करते हुए हमारी पंच-वर्षीय योजनाओं में कहा गया है कि जब तक मानव-साधनों को उन्नत बनाने में धन व्यय नहीं किया जाता, कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती।[५] आर्थिक विकास के लिये क्रमशः अधिकाधिक अपेक्षा मानव-साधन की होती है और प्रजातांत्रिक ढाँचा ऐसे मूल्यों और अभिवृत्तियों की अपेक्षा करता है, जिनके निर्माण में गुणात्मक शिक्षा की आवश्यकता होती है।[६] त्वरित आर्थिक विकास और प्रौद्योगिक प्रगति के लिये तथा स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय और अवसरों की समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था लाने के लिये शिक्षा एक महत्वपूर्ण अकेला कारक है।[७] शिक्षा आर्थिक विकास और सामाजिक आधुनिकीकरण में निर्णायक भूमिका निभाती है। उत्पादन का मूल कारक होने के कारण वह विभिन्न कार्यों के लिये आवश्यक संख्या और गुणवत्ता के व्यक्तियों को उपलब्ध कराती है और लोगों में उचित अभिवृत्तियां, कौशल तथा व्यक्तित्व के गुणों को उत्पन्न कर विकास के लिये उपयुक्त पर्यावरण का सृजन करती है।[८] इस प्रकार शिक्षा उत्पादन और राष्ट्रीय जीवन का प्रमुख साधन बन गयी है।

उपर्युक्त कारणों से सभी देशों में अब शिक्षा पर अधिकाधिक व्यय किया जाने लगा है। कहा तो यह जाता है कि देश की सुरक्षा के बाद शिक्षा ही राज-कोष से सबसे बड़ी मांग करती है। किन्तु सुरक्षा के विपरीत, शिक्षा कभी न कभी और कहीं न कहीं प्रत्येक नागरिक को प्रत्यक्षतः अन्तर्विष्ट कर लेती है। एडमंड बर्क ने शिक्षा को 'राष्ट्र की सस्ती सुरक्षा' की संज्ञा दी है। सुरक्षा होने के कारण उस पर भारी व्यय अनिवार्य और स्वीकार्य हो जाता है। अमेरिका के अर्थशास्त्री थियोडोर शूल्ज ने इस व्यय के अति-रिक्त अवसर-लागत (अपार्चुनिटी कास्ट्स) भी इसमें जोड़ने को कहा है, जो इस व्यय की दुगनी या तिगुनी हो सकती है। यह लागत वह आय है, जिससे छात्र कक्षा में उपस्थित होने के कारण वंचित हो जाते हैं जिसे वे प्राप्त कर सकते थे यदि वे उसी समय में कोई लाभप्रद कार्य या नौकरी करते।

शिक्षा-व्यय : एक निवेश

शिक्षा पर व्यय करना अब पूँजी लगाना समझा जाता है और उसे निवेश (इन्वेस्टमेंट) माना जाता है। धन को इस उद्देश्य से लगाना, जिससे भविष्य में उससे अधिक आय हो या अधिक पूँजी प्राप्त हो, निवेश कहलाता है। शिक्षा में जो धन लगाया जाता है, उससे भविष्य में अधिक लाभ होता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति की कार्यक्षमता, निपुणता और योग्यता बढ़ती है। जब वह शिक्षा प्राप्त कर किसी उत्पादन-कार्य में लगता है, तो उसकी इस योग्यता या निपुणता के कारण

उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। ऐसा देखा गया है कि जितनी पूंजी तथा अन्य साधन किसी उद्योग में लगाये जाते हैं, उनसे जो प्रत्याशित लाभ होना चाहिए, उससे कहीं अधिक लाभ होता है। इस अवशेष (रेसीड्यूअल) लाभ का कारण लोगों ने शिक्षा को ठहराया है। जितनी अधिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति होता है, उतना ही अधिक उससे लाभ होता है। इस प्रकार शिक्षा में लगायी पूंजी का प्रतिफल (रिटर्न) भविष्य में मिलता है। प्रौढ़-शिक्षा के प्रतिफल तुरन्त मिलते हैं, किन्तु प्रारंभिक शिक्षा के प्रतिफल आठ या दस वर्षों में और उच्च शिक्षा के बीस-बाईस वर्षों बाद मिलते हैं। इसलिये शिक्षा पर किये गये व्यय को निवेश कहते हैं। इस निवेश को और अधिक बढ़ाने का प्रयत्न प्रत्येक देश कर रहा है। वह तभी संभव हो सकता है जब युद्ध बंद किये जायें और शांति बनी रहे, जिससे शिक्षा में अधिक धन लगाया जा सके।[९] अतएव स्वयं के हित में भी शिक्षा का युद्ध रोकने का प्रयास करना वांछनीय है।

शिक्षा की दक्षता

आज की शिक्षा पर बढ़ते हुए व्यय को देखकर अर्थ-शास्त्रियों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ है और वे शिक्षा के अर्थशास्त्र (एकॉनॉमिक्स ऑफ एजूकेशन) का अध्ययन करने लगे हैं। उनका प्रयत्न है कि शिक्षा में लगाये जाने वाले धन का प्रभावोत्पादक ढंग से उपयोग हो और नये उपकरणों एवं विधियों के प्रयोग से उसका व्यय घटाया जा सके। वे इसके सदुपयोग के लिये शिक्षा की दक्षता पर बल दे रहे हैं।

अनेक देशों की शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में प्रायः यह शिकायत है कि वह इतनी दक्ष या कार्यकुशल नहीं है कि शैक्षणिक लक्ष्यों की पूर्ण प्राप्ति की जा सके। कई देशों में आधारभूत प्रारम्भिक शिक्षा सार्वजनिक एवं अनिवार्य नहीं हो पायी है और निरक्षरता का प्रतिशत बहुत बड़ा है। विभिन्न वय-वर्गों के अनेक बालक और बालिकाएं शिक्षा-सुविधाओं से वंचित हैं। जो नामांकित है, उनमें व्यर्थता और अगति (वेस्टेज एंड स्टैगनेशन) बहुत अधिक है। परीक्षाओं में असफल छात्रों का *प्रतिशत बड़ा ऊंचा है, जिससे धन, शक्ति और समय* का बड़ा अपव्यय होता है। शिक्षित स्नातक जीविका-विहीन ही नहीं हैं, अपितु किसी आजीविका के योग्य भी नहीं पाये जाते। विद्यालयों का वितरण देश के सभी भागों में समान नहीं है और शिक्षा-सुविधाओं में असमानता है। शिक्षा के स्वयं के विभिन्न क्षेत्रों में असंतुलन व्याप्त है। इन दोषों के कारण शिक्षा की दक्षता तथा प्रभावोत्पादकता बहुत कम हो गयी है। शिक्षा के संगठन और व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता है, जिससे अपव्यय रोका जा सके और शैक्षणिक अवसरों में समानता लाकर शिक्षा की गुण-वत्ता बढ़ायी जा सके।[१०]

भौतिकवाद की पराकाष्ठा

आज भौतिकवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया है। हम नक्षत्रों की दूरियां नाप रहे हैं, किन्तु पृथ्वी पर मनुष्य की मनुष्य से दूरी कम नहीं हो पा रही है। चन्द्रमा पर पहुँच गये तो क्या हुआ? मंगल, शुक्र, शनि पर पहुंचकर हम क्या पा लेंगे? अपरिमिति ऊर्जा और अपार ज्ञानराशि प्राप्त कर लेने पर मानव को क्या वास्तविक लाभ हुआ? जीवन क्या है? क्या उसका अंतिम लक्ष्य यही है? ऐसे अनेक प्रश्न मानव के अन्तस् को झकझोरने लगे हैं। विशेषतः हमारे नवयुवकों के कोमल मस्तिष्कों को उन्होंने बड़ा उद्विग्न कर दिया है। वे जानना चाहते हैं कि इस ज्ञान-विज्ञान का कहाँ अन्त होगा? भौतिकवादी पराकाष्ठा उन्हें कहाँ पहुंचायेगी? क्या हम अपने जीवन को वैसा ढाल लें, जैसे हमारे माता-पिता और पूर्वजों के ढले हैं?

इन प्रश्नों ने उनके अन्तर्मानस को इतना उद्वेलित कर दिया है कि वे ऐसे ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा-दीक्षा और आराम-विलास के जीवन के प्रति सारी आस्था खो बैठे हैं। उन्होंने आज की भौतिक व्यवस्था, प्रचलित शिक्षा और रूढ़िवादी स्थापना (एस्टेब्लिशमेंट) के प्रति विद्रोह कर दिया है। ऐसे हजारों-लाखों नवयुवक शांति की खोज में हिप्पी और बीटिल्स का स्वांग रचाये दर-दर घूमते-फिरते हैं।

भारतवर्ष में विशेषतः उनके काफिले प्रत्येक बड़े नगर में दृष्टिगोचर हो जाते हैं। क्यों? भारतवर्ष की ओर उनका विशेष आकर्षण क्यों ? इसका उत्तर शायद इकबाल साहब ने बहुत पहले निम्नांकित पंक्तियों में दे दिया था—

यूनानो मिस्रो रोमा सब उठ गये जहां से।
अब तक मगर है बाकी नामोनिशां हमारा ॥
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहां हमारा ॥

तो क्या बात है कि हमारी हस्ती नहीं मिटती, जबकि यूनान, मिस्र, और रोम की तो प्राचीन प्रतिष्ठित सभ्यताएं नेस्तनाबूद हो गयीं। बात यह है कि प्रत्येक देश के जन-जीवन को उत्प्रेरित एवं अनुप्राणित करने वाला एक ऐसा प्राणवान् तत्त्व होता है, जिसके सहारे देश उन्नति करता रहता है, उसकी शक्ति और ख्याति बढ़ती रहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका को ही लीजिए, उसका विशिष्ट तत्त्व राजनय (डिप्लोमेसी) है, जिससे वह आगे बढ़ा है और आज सारे विश्व पर छाया हुआ है। ब्रिटेन का व्यापार, जिसके कारण वह 'नेशन आफ शापकीपर्स' कहलाता था और जिसके आधार पर कभी ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्यास्त ही नहीं होता था, फ्रांस का यह तत्त्व विलासिता और सोवियत रूस का श्रम के प्रति श्रद्धा है।

इसी प्रकार भारतीयों को अनुप्राणित करने वाला तत्त्व आध्यात्मिकता है। प्राचीनकाल से यह हमारा प्रेरणात्मक तत्त्व रहा है। इसलिये बड़े-बड़े भौतिकवादी राष्ट्रों के नष्ट हो जाने पर भी 'हस्ती मिटती नहीं हमारी' और इसी की ओर आकर्षित होकर अनेक विदेशी भारत आते हैं तथा यहाँ के आध्यात्मिक व्यक्तियों को विदेशों में आदर-सम्मान मिलता है। अनेक देशों में योगाश्रम खुलने तथा 'हरे राम हरे कृष्ण' आन्दोलन चलने का यही रहस्य है। अध्यात्मवाद में ही वास्तविक उन्नति की गुंजाइश है, चारित्रिक विकास की संभावनाएं हैं और व्यष्टि एवं समष्टि के उन्नयन की आशाएं हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसा उत्तराधिकार पाकर भी आज भारतवासी चारित्रिक संकट से ग्रस्त हैं, जिनके संबंध में मनु ने कहा था—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

अतएव आज की शिक्षा में आध्यात्मिकता का पुट होना आवश्यक है जिससे मनुष्य आत्मसंस्कार कर सके, अपने चरित्र को ऊंचा उठा सके और भौतिक मृगतृष्णाओं के पीछे न भागे।

शिक्षा आज ऐसे अनेक नवाचारों, प्रत्ययों और संकल्पनाओं से आक्रांत है कि शायद लोग समझें कि उसमें क्रांति आ रही है। वास्तव में शिक्षा में क्रांति की स्थिति नहीं है, वरन् उसके विभिन्न क्षेत्रों मे विकट समस्याएं हैं जिनका निराकरण करने के लिये उसकी प्रचलित अवधारणाओं में परिवर्तन करना आवश्यक है। अब शिक्षा को इन सब परिस्थितियों और विचारों को भली भाँति दृष्टिगत करके व्यक्ति में एक ऐसा आधारभूत विवेक जाग्रत करना होगा, जो उसे अपने सभी संबंधों को समझने में सहायक हो। इससे वह वर्द्धमान वैज्ञानिक ज्ञान मात्र से आकर्षित न होकर उसका उपयोग अतीत को समझने, भविष्य का अनुस्थापन करने और वर्तमान के प्रति अपनी प्रतिक्रिया सुधारने में करेगा। तब वह आधुनिक समाज और ऐतिहासिक उत्तराधिकार की नाड़ी ऐसे साधेगा कि न अतीत में अन्धविश्वास, न वर्तमान में यथास्थिति और न परिवर्तन के लिये परिवर्तन करने पर उद्यत होगा।

•

(निवर्तमान प्रोफेसर आफ एजूकेशन, जबलपुर वि० वि०, सागर वि० वि०, कानपुर वि० वि०) सुमित्रा सदन, १०६/३९२, पी० रोड, कानपुर, २०८ ०१२

संदर्भ :

१. ए० एन० ह्वाइटहैड : द एम्स आफ एजूकेशन, पृ० १३
२. यूनेस्को : लर्निंग टु बी, पृष्ठ १८१-२०४
३. ए० एन० ह्वाइटहैड : द एम्स आफ एजूकेशन, पृ० ६७
४. आत्मानन्द मिश्र : शिक्षा का वित्त-प्रबंधन, पृ० १८
५. भारत-सरकार : प्रथम पंचवर्षीय योजना, पृ० ५३०
६. भारत-शासन : द्वितीय पंचवर्षीय योजना पृ० ५००
७. भारत-शासन : चतुर्थ पंचवर्षीय योजना, पृ० ३११
८. भारत-शासन : पांचवीं पंचवर्षीय योजना, भाग २, पृ० १९१
९. आत्मानन्द मिश्र : शिक्षा में वित्त-प्रबंधन, पृ० २०, २९०
१०. आत्मानन्द मिश्र : शिक्षा की समस्याएं, पृ० २०६

●

★

अनन्त शास्त्रं बहुला च विद्या
अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

★

विजय-संकल्प

अश्वं नैव गजं नैव व्याघ्रं नैव च नैव च।
अजापुत्रं बलिं दद्यात् देवो दुर्बलघातकः ॥

(घोड़ा नहीं, हाथी नहीं, व्याघ्र तो कदापि नहीं, बकरी का पुत्र ही बलि दिया जाता है। देवता भी दुर्बल का ही विनाश करते हैं।)

अप्रतिकार की प्रवृत्ति का यही परिणाम है। आवश्यकता न होने पर अथवा न्याय और सम्मानपूर्ण समझौता सम्भव होने पर भी सदैव शक्ति-प्रयोग की बात करना और वैसा ही व्यवहार करना अमानुषिक तथा क्रूरतापूर्ण है, परन्तु सदा समझौते की बात करना और जब अन्याय और अपमानों को दूर करने का अन्य कोई मार्ग न हो, उस समय भी शक्ति का प्रयोग न करना कायरता और नपुंसकता है।

× × × ×

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखो हतः ॥

(योगयुक्त संन्यासी और रण में सामना करते हुए मरने वाला वीर, ये दो पुरुष सूर्यमण्डल को भेदकर परमगति प्राप्त करते हैं।)

जब युद्ध का आह्वान होता था, राजपूत योद्धा इसी विश्वास से अनुप्राणित हो, प्रसन्नतापूर्वक और मृत्यु की तनिक भी चिन्ता किये बिना शत्रुदल पर धावा बोल देते थे। उन्होंने पराजय और अपमान के घृणित जीवन की तुलना में सम्मानपूर्ण बलिदान को अधिक अच्छा समझा। राजपूतों ने पराक्रम और आत्मबलिदान के इन महान कार्यों के द्वारा हमारे इतिहास में चकाचौंध तथा विस्मयपूर्ण श्रद्धा उत्पन्न करने वाला पृष्ठ लिख दिया है। अनुपम वीरता के ऐसे ज्वलन्त क्षण, मृत्यु से खिलवाड़ करने की ऐसी उल्लासपूर्ण वृत्ति विश्व के इतिहास में दुर्लभ है। यह ठीक ही है कि हम ऐसे आत्माओं के विषय में अभिमान और आदर की भावना रखें। परन्तु यह सत्य है कि ये वीर रणक्षेत्र में एकमात्र मृत्यु का विचार लेकर घुसे थे, विजय की इच्छा लेकर नहीं। वे केवल वीरतापूर्ण मृत्यु प्राप्त करने के विचार से प्रेरित थे। जैसी इच्छा, वैसा परिणाम। यदि विजय की इच्छा सर्वोपरि है तो विजय प्राप्त होती है, परन्तु जो केवल मृत्यु की कामना करता है, उसे अवश्य ही मृत्यु मिलती है।

क्षात्र धर्म की एक गलत धारणा के कारण इन वीरों ने बलिदान की आकांक्षा लेकर स्वयं को नष्ट कर दिया। यह भी एक प्रकार की दुर्बलता है। इस प्रकार का भावुकतापूर्ण स्वाभिमान धारण करने वाले वर्ग में वैसी शान्त और स्थिर संकल्पशक्ति नहीं हो सकती, जो परिस्थितियों की किंकर्तव्यविमूढ़ करने वाली कशमकश में भी अनुद्विग्न बनी रहे, और केवल ऐसी संकल्प-शक्ति ही अन्तिम विजय की ओर ले जा सकती है।

—मा० स० गोलवलकर (श्री गुरुजी)

डा० बाबूलाल फड़िया

भारतीय संघ में राज्य-केन्द्र वित्तीय सम्बन्ध और वित्तीय स्वायत्तता

संघात्मक शासन-व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों की सरकारों के बीच केवल विधायी और प्रशासनिक शक्तियों का ही विभाजन नहीं होता, अपितु वित्तीय क्षेत्रों का भी बंटवारा होता है। वित्तीय स्रोतों के विभाजन को लेकर केन्द्र और उसकी घटक इकाइयों के बीच मतभेद और तनाव उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। यह समस्या उतनी ही पुरानी है, जितनी कि संघात्मक शासन-प्रणाली, और प्रायः विश्व की सभी संघात्मक प्रणालियों को न्यूनाधिक रूप से आलोड़ित करती रही है। अमरीकी संविधान, जिसमें स्थायित्व की अटूट क्षमताएं विद्यमान हैं, संक्रमण-कालीन संघात्मक संकटों के कठिन दौर से गुजर चुका है। राष्ट्रीय एकता बनाम राज्यीय स्वायत्तता का मुद्दा अमरीकी संघ-व्यवस्था में भी यदा-कदा उभरता रहा है और शक्ति का सन्तुलन कभी राज्यों के अनुकूल रहा है तो कभी प्रतिकूल भी। कैनेडियन संघ-व्यवस्था की भी आज यही ज्वलंत समस्या है। वहां आज न केवल घटक प्रान्तों के लिये अधिक स्वायत्तता की मांग की जा रही है, अपितु क्यूबेक जैसे प्रान्त के लिये जातीय और भाषाई आधार पर सम्प्रभुता का भी समर्थन किया जा रहा है।

यथार्थ में आज कोई भी संघात्मक शासन-प्रणाली वाला देश यह दावा नहीं कर सकता कि वह केन्द्र-राज्य-विवादों की समस्या से पूर्णतया मुक्त है। यही कारण है कि संघ-व्यवस्था को, जिसका आधार परस्पर सामंजस्यपूर्ण भागीदारी की भावना है, 'तनावों का संस्थाकरण' करने वाली व्यवस्था भी कहा गया है।[1]

केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध : केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति

भारतीय संघ-व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय स्रोतों का वितरण प्रारम्भ से ही विवादास्पद विषय रहा है।[2] संविधान-निर्मात्री सभा में भी अनेक सदस्यों की ओर से यह आपत्ति उठायी गयी थी कि नये संविधान में वित्तीय स्रोतों के विभाजन की योजना भारतीय संघ के इकाई राज्यों को 'नगरपालिकाओं' की श्रेणी प्रदान कर देगी।[3]

भारतीय संविधान के केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों वाले

प्रावधानों का विश्लेषण करने से यह संकेत मिलता है कि भारतीय संघवाद की सामान्य प्रकृति अर्थात् 'केन्द्रीयता' के अनुकूल ही इन उपबन्धों की योजना हुई है। केन्द्रीय सरकार राज्य-सरकारों की अपेक्षा वित्तीय क्षेत्र में अधिक शक्तिशाली है। **प्रथम,** केन्द्र के पास आय के महत्वपूर्ण और विशिष्ट साधन हैं। वे किसी प्रकार की साझेदारी की व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं आते, जैसे—विदेशों से मिलने वाली आर्थिक सहायता, संचरण की आय-व्ययक आय, केन्द्र द्वारा उन्मुक्त बाजार से लिये गये ऋण, घाटे की अर्थ-व्यवस्था आदि। ये स्रोत ऐसे हैं, जो किसी भी प्रकार और किसी भी मूल्य पर बांटे नहीं जा सकते।[४] **द्वितीय,** संविधान के अन्तर्गत केन्द्र द्वारा राज्यों को चार प्रकार के सहायक अनुदान प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है। प्रथम—पटसन (जूट) और उससे बनी वस्तुओं के निर्यात से जो शुल्क प्राप्त होता है, उसमें से कुछ भाग अनुदान के रूप में जूट पैदा करने वाले राज्यों—बिहार, बंगाल, असम व उड़ीसा—को दे दिया जाता है। दूसरे—बाढ़, भूकम्प व सूखाग्रस्त क्षेत्रों में पीड़ितों की सहायता के लिये भी केन्द्रीय सरकार राज्यों को अनुदान दे सकती है। तीसरे—वनवासी जातियों व कबीलों की उन्नति व उनके कल्याण की योजनाओं के लिये भी सहायक अनुदान दिया जाता है। चौथे—राज्यों को आर्थिक कठिनाइयों से उबारने के लिये भी केन्द्र राज्यों की वित्तीय सहायता कर सकता है।[५] **तृतीय,** संविधान केन्द्र को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह अपनी संचित निधि की साख पर देशवासियों व विदेशी सरकारों से ऋण ले सके। ऋण लेने का अधिकार राज्यों को भी प्राप्त है, परन्तु वे विदेशों से उधार नहीं ले सकते। देश के अन्दर भी राज्यों की ऋण लेने की सीमा अमर्यादित नहीं है। यदि राज्य द्वारा लिये गये पूर्ववर्ती ऋण का भुगतान नहीं हुआ हो तो राज्य सरकारें संघीय सरकार की अनुमति के बिना दूसरा ऋण नहीं ले सकतीं।[६] **चतुर्थ,** राज्यों द्वारा संघ की सम्पत्ति पर कोई कर तब तक नहीं लगाया जा सकता, जब तक संसद विधि द्वारा कोई प्रावधान न कर दे। **पंचम,** नियंत्रक एवं महालेखा-परीक्षक सारे देश की वित्तीय स्थिति की देखभाल के लिये उत्तरदायी होता है और उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं। यद्यपि राज्यों के अपने लेखा-परीक्षक होते हैं, परन्तु उन्हें इसी केन्द्रीय पदाधिकारी के नियंत्रण और निर्देशन में कार्य करना होता है।[७] **षष्ठ,** अनुच्छेद ३६० के अन्तर्गत राष्ट्रपति वित्तीय संकट की घोषणा करके राज्यों की वित्तीय स्वतन्त्रता को मर्यादित कर सकते हैं। विधान-मण्डलों द्वारा पारित किये गये वित्तीय विधेयकों को राष्ट्रपति अपने विचारार्थ मंगवा सकते हैं, संघीय अनुदानों और करों के विभाजन में परिवर्तन कर सकते हैं या उन्हें स्थगित कर सकते हैं और राज्य-कर्मचारियों के वेतनों में कटौती कर सकते हैं।

भारतीय संघ के ढांचे में राज्यों को जो स्थिति प्राप्त है, उसमें इसके लिये किसी विशेष तर्क की आवश्यकता नहीं कि राज्यों के पास अपने उत्तर-दायित्वों के अनुपात में वित्तीय साधन-स्रोत भी होने चाहिए। अपने उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिये यदि हम केन्द्र तथा राज्य—दोनों को पृथक्-पृथक् तथा पर्याप्त एवं लचीले साधनस्रोत दे पाते तो यह एक आदर्श स्थिति होती। संविधान-निर्माताओं की यह अभिलाषा थी कि वित्तीय साधनों का विकेन्द्रीकरण इस प्रकार से किया जायेगा कि राज्यों में वित्तीय उत्तरदायित्वों को पूरा करने की भावना बढ़े और वे केन्द्रीय सरकार के स्वविवेकी अनुदान के ही मुखापेक्षी न बने रहें। किन्तु धीरे-धीरे हुआ यह कि केन्द्र के स्वविवेकी अनुदान पर राज्यों की बढ़ती हुई निर्भरता ने एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी, जिससे केन्द्र और राज्यों के बीच सांविधानिक विभाजन निरर्थक सा बनता जा रहा है।[८] तालिका संख्या एक और दो (पृष्ठ ३३, ३४ पर) से राज्यों की केन्द्र पर वित्तीय निर्भरता स्पष्ट हो जाती है।

राज्यों की वित्तीय निर्भरता : कारण

हमारी संघीय व्यवस्था में केन्द्र पर राज्यों की आर्थिक निर्भरता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।[९] इसके कई कारण हैं : **प्रथम** संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य आय के संसाधनों का वितरण इस ढंग से किया गया है कि केन्द्र राज्यों की तुलना में अधिक लाभ-

तालिका—१[10]

वित्तीय स्रोतों का केन्द्र से राज्यों को हस्तान्तरण (करोड़ रुपयों में)

	प्रथम पंच वर्षीय योजना	द्वितीय पंच वर्षीय योजना	तृतीय पंच वर्षीय योजना	तीन वार्षिक योजनाएं	चतुर्थ पंच वर्षीय योजना	पंचम पंच वर्षीय योजना	षष्ठ पंच वर्षीय योजना
	१	२	३	४	५	६	७
अ—वित्त-आयोगों की अनुशंसा पर हस्तान्तरण	४२९	९१८	१५९०	१७८२	५४२०	१३०७९	२०८४५
ब—*योजना-आयोग* के माध्यम से हस्तान्तरण	८८०	१३४४	२७३८	१९१७	४९००	१०५९५	१३२४५
स—अन्य हस्तान्तरण	१०४	६०६	१२७२	१६४८	४९९२	४०५४	—
द—कुल योग (अ+ब+स)	१४१३	२८६८	३६००	५३४७	१५३१२	२७७२८	३४०९०
अ से द तक प्रतिशत	३०.३	३२.०	२८.४	३३.३	३५.४	४७.२	६१.१
ब से द तक प्रतिशत	६२.३	४६.९	४८.९	५५.९	३२.०	३८.२	३८.९
स से द तक प्रतिशत	७.४	२१.१	२२.७	३०.८	३२.६	१४.६	—

तालिका—२[11]

पांचवीं योजना के लिये राज्यवार राशि का ब्यौरा तथा केन्द्रीय सहायता (करोड़ रुपयों में)

क्रम-संख्या	राज्य	पांचवीं योजना की राशि	केन्द्रीय सहायता की राशि	केन्द्रीय सहायता का प्रतिशत
१.	आन्ध्र प्रदेश	१३३३.५८	३६७.४४	२७.५५
२.	बिहार	१२९६.०६	४७२.६३	३६.४७
३.	गुजरात	११६६.६२	२०९.९८	१८.००
४.	हरियाणा	६०१.३४	९९.२९	१६.५१
५.	कर्णाटक	९९७.६७	२३२.४६	२३.३०
६.	केरल	५६८.९६	२३७.८४	४१.८०
७.	मध्य प्रदेश	१३७९.७१	३२६.२६	२३.६५
८.	महाराष्ट्र	२३४७.६१	३३४.४२	१४.२५
९.	उड़ीसा	५८५.०२	२२९.१५	३९.१७
१०.	पंजाब	१०१३.४९	१३२.३९	१३.०६

११.	राजस्थान	७०९.२४	२७३.४१	३८.५५
१२.	तमिलनाडु	११२२.३२	२९६.५३	२६.४२
१३.	उत्तर प्रदेश	२४४५.८६	७८६.८४	३२.१७
१४.	पश्चिम बंगाल	१२४६.८३	३०१.३६	२४.१७
१५.	कुल	१६८१४.३१	४३००.००	२५.५७
१६.	विशिष्ट श्रेणी राज्य	१५५१.०२	१०६४.०६	७०.००

दायक स्थिति में है। उदाहरणार्थ—राज्यों को कृषि-भूमि पर सम्पदाशुल्क, भू-राजस्व, कृषि-आय पर कर आदि विषयों पर संसाधन सौंपे गये हैं। प्रशासनिक दृष्टि से भू-राजस्व एकत्र करना बड़ा कठिन होता है और राजनीतिक दृष्टि से कृषि-आय पर कर लगाना राज्य-सरकार के लिये घाटे का सौदा माना जाता है। इसके विपरीत केन्द्र के पास निगम-कर, निर्यात-कर तथा आबकारी-कर जैसे महत्वपूर्ण संसाधन हैं। **द्वितीय**, राज्य-सरकारें लोक-कल्याण और विकास सम्बन्धी कार्य करती हैं। सामाजिक कल्याण के विभिन्न क्षेत्रों, जैसे—स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा आदि, में राज्य-सरकारों का व्यय अनवरत रूप से बढ़ता जा रहा है। राज्य-सरकारों के दायित्व बढ़ते गये किन्तु संसाधनों में उस गति से वृद्धि नहीं हुई, जिससे उन्हें घाटे के बजट अपनाने के लिये बाध्य होना पड़ा। **तृतीय**, अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये राज्य-सरकारें केन्द्र की भांति विदेशों से ऋण नहीं ले सकतीं। **चतुर्थ**, यदि किसी राज्य-सरकार पर संघ-सरकार का कोई ऋण बाकी है तो राज्य-सरकार अन्य ऋण संघ-सरकार की अनुमति से ही ले सकती है। इस प्रकार का ऋण देते समय संघ-सरकार किसी भी प्रकार की शर्त लगा सकती है। **पंचम**, केन्द्रीय सरकार आये दिन अपने कर्मचारियों के महंगाई भत्तों में वृद्धि करती रहती है, जिसका प्रतिकूल प्रभाव राज्यों के कोष पर पड़ता है, क्योंकि उन्हें भी अपने कर्मचारियों के भत्तों में वृद्धि करनी पड़ जाती है। **षष्ठ**, राज्यों को दिये जाने वाले कतिपय अनुदान केन्द्रीय सरकार की स्व-विवेकी शक्ति के अन्तर्गत आते हैं और राज्यों को बराबर यह शिकायत रही है कि केन्द्रीय सरकार इन अनुदानों का वितरण करते समय पक्षपातपूर्ण आचरण करती है। **सप्तम**, पिछले पच्चीस वर्षों में राज्य धीरे-धीरे, किन्तु अधिकाधिक रूप से वित्तीय साधनों के लिये केन्द्रीय सरकार पर निर्भर और ऋणग्रस्त होते चले गये। राज्यों की इस ऋण-ग्रस्तता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार से लिया गया ऋण १९६१ के २० अरब १४ करोड़ रुपये से बढ़कर १९७१ में ६३ अरब ६५ करोड़ रुपये तथा १९७८ के बजट अनुमानों के अनुसार १ खरब १३ अरब ६९ करोड़ रुपये हो गया, जो कि राज्यों की कुल ऋणग्रस्तता का लगभग ७० प्रतिशत है। इस प्रकार ऋण-सेवाओं का भार राज्यों की कर-आय को प्रभावहीन बना रहा है। वास्तव में केन्द्र के साथ राज्यों की ऋणग्रस्तता अब इस स्थिति में पहुंच गयी है कि ऋण अदायगी तथा ब्याज की राशि मिलकर नयी केन्द्रीय सहायता से अधिक हो जाती है, जिसका अर्थ यह है कि साधनों का वितरण विपरीत दिशा में हो जाता है। ऐसी स्थिति परिपक्व एवं सन्तुलित केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के लिये ऋणात्मक है। तालिका—३ (पृ० ३५) में राज्यों की ऋण-स्थिति का चित्रण किया गया है।

केन्द्र-राज्य-तनाव-क्षेत्र : वित्तीय तथा योजना सम्बन्धी विषय

संघीय शासन-व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों के मध्य वित्तीय और नियोजन-सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर मत-भेद होना स्वाभाविक है। सन् १९६७ के चतुर्थ आम चुनावों के बाद भारत में केन्द्र तथा राज्यों के बीच निम्नलिखित वित्तीय और योजना सम्बन्धी विषयों को लेकर विवाद उभरे हैं :

तालिका—३[१९]

निम्नांकित वर्षों के ३१ मार्च को राज्यों की ऋण-स्थिति (करोड़ रुपयों में)

	१९५१	१९५६	१९६१	१९६६	१९६९	१९७४	१९७९
१. आन्तरिक ऋण							
क—बाजार	१११	२२२ (१७.२)	४१० (१५.०)	७२० (१३.१)	९५० (१२.८)	१५४३ (१३.३)	२५७६ (१३.६)
ख—अन्य ऋण	१२	४५ (३.४)	१८२ (६.६)	४५८ (८.२)	५३९ (७.३)	६१२ (५.३)	७७६ (४.३)
२. केन्द्र से ऋण	१९६	९४३ (७२.७)	२०१४ (७३.५)	४१०३ (७४.५)	५५६९ (७५.०)	८५७८ (७४.०)	१३४६३ (७१.६)
३. भविष्य-निधि इत्यादि	३६	८६ (६.७)	१३३ (४.९)	२३१ (४.२)	३६६ (४.९)	८५७ (७.४)	१९७४ (१०.५)
कुल ऋण	३५५	१२९६	२७३९	५५१२	७४२४	११५९०	१८७८९

प्रथम, वर्तमान में वित्त-आयोग और योजना-आयोग द्वारा वित्तीय संसाधनों के वितरण की प्रचलित व्यवस्था से अधिकांश राज्य संतुष्ट नहीं हैं। प्रचलित व्यवस्था में करों से प्राप्त होने वाली आय का प्रधान भाग केन्द्रीय कोष में जाता है और अपने लोक-कल्याण एवं जन-विकास-सम्बन्धी दायित्वों की वृद्धि के उपरान्त राज्यों की आय के स्रोत अत्यन्त अल्प रखे गये हैं। इसके परिणामस्वरूप राज्यों की योजनाओं की सफलता बहुत कुछ केन्द्रीय अनुदान पर ही निर्भर हो जाती है। सन् १९६७ के बाद राज्यों की यह शिकायत रही कि केन्द्र की सरकार उन राज्यों को अधिक सहायता देती थी, जहां कांग्रेसी सरकारें थीं।

द्वितीय, राज्यों को दिये जाने वाले कतिपय अनुदान केन्द्रीय सरकार की स्वविवेकी शक्ति के अंतर्गत आते हैं और राज्यों को बराबर यह शिकायत रही है कि केन्द्रीय सरकार इन अनुदानों का आबंटन करते समय भेदभाव बरतती है। उदाहरणार्थ—१९७०-७१ के केन्द्रीय बजट में राज्यों की विशेष सहायता के लिये १७५ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गयी, किन्तु उसमें यह उल्लेख नहीं किया गया कि यह सहायता किन राज्यों को दी जायेगी। महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री (वसंतराव नाईक) ने राष्ट्रीय विकास-परिषद् की बैठक में योजना-आयोग को चुनौती देते हुए कहा कि उसे यह निर्णय करने का अधिकार नहीं कि किस राज्य को विशेष सहायता दी जाय और किसे नहीं। कतिपय अन्य मुख्यमंत्रियों का कहना था कि वास्तव में विशेष सहायता की परिणति सामान्य सहायता में होनी चाहिए, अर्थात् यह नहीं होना चाहिए कि कुछ राज्यों को यह सहायता मिले और दूसरे राज्य उससे वंचित रहें।

तृतीय, यह भी आलोचना का विषय है कि केन्द्र से हस्तान्तरित होने वाली राशि का केवल एक तिहाई भाग ही वित्त-आयोग की संस्तुतियों पर होता है, जबकि दो तिहाई भाग वित्त-आयोग के क्षेत्र से बाहर है। बंटवारे की यह पद्धत्ति मनमाने ढंग की है, चाहे यह बंटवारा योजना-आयोग द्वारा ही क्यों न किया जाता हो। फिर, केवल योजना-आयोग ही ऐसे अनुदान नहीं देता। वित्त-आयोग तथा योजना-आयोग के क्षेत्र से बाहर के अनुदान प्रथम पंचवर्षीय योजना में दिये गये अनुदानों का केवल ७.३ प्रतिशत थे, किन्तु

बाद की पंचवर्षीय योजनाओं में इनका महत्व बढ़ता गया तथा चौथी योजना में यह बढ़कर ४१ प्रतिशत हो गया। ये अनुदान, जिन्हें विवेकानुदान कहा जाता है, योजना-अनुदानों की अपेक्षा ७३ प्रतिशत बढ़ गये। सरकार की इच्छा पर छोड़े गये इन अनुदानों के विरुद्ध सब से बड़ी आपत्ति यह है कि ये संघीय वित्तीय संबंधों में न्याय के सिद्धान्त का उल्लंघन करते हैं। सभी मुख्य मंत्रियों ने सातवें वित्त-आयोग के समक्ष अनुच्छेद २८२ के अत्यधिक प्रयोग पर, जिसके अन्तर्गत ये विवेकानुदान दिये जाते हैं, पुनः विचार करने को कहा।

चतुर्थ, योजना-आयोग की भूमिका को ले कर भी केन्द्र-राज्य विवादों में वृद्धि हुई है। योजना-आयोग संपूर्ण देश की योजना के लिये कुछ आधारभूत विषय निश्चित करता है। चूंकि प्रत्येक राज्य की समस्याएं अलग-अलग हैं, इसलिये उनकी मूल समस्याओं का निराकरण नहीं हो पाता। योजना-प्रारूप का अन्तिम निर्णय तो केन्द्रीय संसद के हाथों में है। योजनाओं के सम्बन्ध में केन्द्र की कार्यपालिका वास्तव में निर्णय लेती है और कार्यान्वित राज्य की कार्यपालिकाओं को करना होता है। योजना-आयोग के सामने राज्य एक परकटे पक्षी की भांति है। राज्यों के पास अपने योजना-मंडल (बोर्ड) नहीं हैं, जोकि राज्यों की योजनाओं को प्राविधिक (तकनीकी) दृष्टि से निश्चित कर सकें।

अब राज्यों में केन्द्रीय सरकार और योजना-आयोग का विरोध करने की प्रवृत्ति उभर रही है। सन् १९६९ में प्रथम बार कुछ राज्यों ने चौथी योजना के प्रारूप को औपचारिक रूप से अस्वीकृति प्रदान की। राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने केन्द्र से राज्यों की आय के स्रोतों को भी बढ़ाने की बात कही।

मई १९७९ में मुख्यमंत्रियों के दो दिन के सम्मेलन में केन्द्र के वित्तीय साधनों के बंटवारे के प्रश्न पर विवाद ने उग्र रूप धारण कर लिया। विवाद कितना बढ़ा, इसका पता इसी तथ्य से लग जाता है कि पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री ने इस प्रश्न को सर्वोच्च न्यायालय के सामने ले जाने का निश्चय प्रकट किया।[13] पश्चिम बंगाल के वित्तमंत्री डा० अशोक मित्र ने कहा कि कच्चे तम्बाकू, चीनी तथा कपड़ों पर एकत्र करों के बटवारे के प्रश्न पर अनेक स्मरण-पत्र भेजने के उपरान्त केन्द्र ने अपना वचन पूरा नहीं किया। उन्होंने कहा कि कुछ वर्ष पूर्व उक्त मदों पर एकत्र करों को राज्य-सरकार ने स्वेच्छा से केन्द्र को दे दिया था। यदि विवाद वार्ता से न सुलझा तो राज्य-सरकार सर्वोच्च न्यायालय में वाद प्रस्तुत करेगी।[14] यह कहना कठिन है कि इस प्रश्न को सर्वोच्च न्यायालय में किस रूप में उठाया जायेगा तथा न्यायालय क्या निर्णय देगा। किन्तु इतना स्पष्ट है कि न्यायालय में जाने से केन्द्र तथा राज्यों के सम्बन्ध सुधरने के स्थान पर और अधिक बिगड़ेंगे।

राज्य-स्वायत्तता बनाम वित्तीय स्वायत्तता

राज्यों की केन्द्र पर अत्यधिक वित्तीय निर्भरता की स्थिति ने एक बड़ी सीमा तक सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ाया है, अतः केन्द्र पर राज्यों की वित्तीय निर्भरता दूर करने के लिये पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार ने मांग की है कि केन्द्र के राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों में कमी करके राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाये।[15] राज्य-स्वायत्तता-सम्बन्धी प्रस्ताव में पश्चिम बंगाल-सरकार ने कहा है कि (१) कुल राजस्व का ७५ प्रतिशत भाग राज्य-सरकारों को व्यय-हेतु प्रदान किया जाये। (२) योजना-आयोग की कार्यप्रणाली में परिवर्तन किया जाये। (३) संविधान के अनुच्छेद २८० (क) को समाप्त करना चाहिए। (४) राज्यों को कर लगाने एवं अवाप्त करने का पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए। (५) केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के वाणिज्य से सम्बन्धित, संविधान के अनुच्छेद ३०२ में निहित अधिकारों को समाप्त करना चाहिए। (६) अनुच्छेद ३६० को, जिसका सम्बन्ध राज्यों में वित्तीय आपात स्थिति की घोषणा किये जाने से है, समाप्त कर दिया जाना चाहिए। पश्चिम बंगाल के वित्त-मंत्री ने कहा है कि केन्द्र को सभी प्रत्यक्ष करों और अधिकांश अप्रत्यक्ष करों के नियंत्रण का अधिकार है। केन्द्र के

पास विदेशी मुद्रा का सुरक्षित कोष भी है, जिससे वह अपने घाटे की अर्थ-व्यवस्था को कम कर सकता है, जबकि यह विदेशी मुद्रा राज्यों द्वारा पैदा की जाती है।

राजमन्नार समिति की संस्तुतियों में भी राज्य-स्वायत्तता की भावना को महत्व दिया गया है। समिति का सुझाव था कि वित्त-आयोग स्थायी रूप से स्थापित किया जाये तथा राज्यों के पक्ष में करों का पहले से अधिक वितरण हो, ताकि उन्हें केन्द्र पर कम से कम निर्भर रहना पड़े। राज्यों को वित्तीय क्षेत्र में स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए। राज्यों को निगम-कर, निर्यात-कर तथा आबकारी-कर में से भाग मिलना चाहिए।[१५]

वस्तुत: अकाली दल[१७], नेशनल कांफ्रेन्स, द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम और अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम जैसे प्रादेशिक दलों वाली राज्य-सरकारों ने राज्य-स्वायतत्ता की अवधारणा का समर्थन किया है, किन्तु राज्यों को अधिक वित्तीय अधिकार दिये जाने की मांग सभी राज्य-सरकारें करती रही हैं। विगत वर्षों में जब एक ही दल केन्द्र तथा राज्यों में शासन करता था, तब केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों में तनाव तथा खिचाव को बहुत सीमा तक दूर किया जाना सम्भव था। किन्तु अब इस प्रश्न ने अधिक महत्व इसलिये प्राप्त कर लिया है कि केन्द्र एवं राज्यों में विभिन्न दलों की सरकारें होने पर राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन आ गया।

प्रशासनिक सुधार-आयोग ने[१८] अनुच्छेद २८२ के अन्तर्गत राज्यों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता का सरलतम रूप प्रस्तुत किया। इस सम्बन्ध में आयोग की अनुशंसाएं इस प्रकार हैं: **प्रथम,** राज्यों को दी जाने वाली कुल केन्द्रीय सहायता की मात्रा निश्चित की जानी चाहिए। इसके बाद ऋण के रूप में दी जाने वाली राशि निश्चित कर लेनी चाहिए। अन्त में बची हुई राशि को अनुदान के रूप में वितरित किया जाना चाहिए। **द्वितीय,** इस अनुदान को वितरित करते समय वह राशि अलग कर लेनी चाहिए, जो मूलभूत राष्ट्रीय महत्व की परियोजनाओं पर व्यय की जानी है। अवशिष्ट राशि को ही केन्द्रीय अनुदान के रूप में राज्यों में वितरित किया जाना चाहिए। **तृतीय,** यदि राज्य ने किसी परियोजना को पूरा नहीं किया है तथा केन्द्रीय अनुदान की अधिक राशि व्यय कर दी है तो बाद में केन्द्रीय अनुदान की मात्रा कम की जा सकती है। **चतुर्थ,** राज्यों में केन्द्रीय उपक्रम (पहल) से संचालित होने वाली परियोजनाओं की संख्या कम होनी चाहिए और केन्द्रीय उपक्रम की परियोजनाओं के मानदण्ड निश्चित होने चाहिए। प्रशासनिक सुधार-आयोग का विचार था कि राज्यों की परियोजनाओं को दो भागों—उत्पादक और अनुत्पादक—में बांटा जाना चाहिए। योजना-आयोग को वे सिद्धान्त निश्चित करने चाहिए, जिनके आधार पर परियोजनाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है। केवल उत्पादक परियोजनाओं के लिये ही ऋण-सहायता उपलब्ध करायी जानी चाहिए तथा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि उस परियोजना के चालू होने पर ब्याज सहित ऋण लौटाया जा सके। **पंचम,** केन्द्रीय सरकार अपने कर्मचारियों का महंगाई भत्ता आदि बढ़ाती रहती है, जिसका प्रभाव राज्यों के बजट पर पड़ता है। राज्य-कर्मचारी भी केन्द्र के बराबर महंगाई भत्ते की मांग करते हैं, राज्य-सरकारों को उनकी मांगों के आगे झुकना पड़ता है, जिससे उन पर आर्थिक भार बढ़ जाता है। आयोग का विचार था कि केन्द्रीय सरकार की नीति के कारण मुद्रा-प्रसार बढ़ता है, अत: राज्यों के इस प्रकार के बढ़ते हुए व्यय का भार केन्द्रीय सरकार को ही वहन करना चाहिए।

परिवर्तित राजनीतिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य में वित्तीय ढांचे पर पुनर्विचार आवश्यक है। सन् १९७७ के बाद आर्थिक विकास की जो प्राथमिकताएं निर्धारित हुई हैं, उनके अनुसार कृषि, सिंचाई, कुटीर व ग्रामोद्योग आदि पर अधिक राशि व्यय की जानी है। ये सारे कार्यक्रम राज्यों के अन्तर्गत ही हैं, इसलिये भी उन्हें अधिक धनराशि की आवश्यकता पड़ेगी। यह सुझाव दिया गया है कि वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत जो आय एकत्रित की जाती है, उसका ६० प्रतिशत राज्यों

को हस्तान्तरित कर दिय जाय। राज्यों की मांग यह भी है कि निगम-कर से प्राप्त की गयी राशि भी राज्यों में वितरित की जाय। यह भी सुझाव दिया जाता है कि आयकर से प्राप्त होने वाली आय में राज्यों का भाग ८० प्रतिशत से बढ़ाकर ९० प्रतिशत कर दिया जाय तथा सहायक एवं विशेष उत्पादन-शुल्क सहित कुल संघीय उत्पादन-शुल्क में राज्यों का भाग बढ़ाकर ५० प्रतिशत कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार की स्वेच्छा पर निर्भर अनुदानों की राशि कम की जाय। कुछ क्षेत्रों से यह सुझाव भी आया है कि ऋण देने का दायित्व रिजर्व बैंक को सौंपा जाना चाहिए।

सच्ची वित्तीय संघ-व्यवस्था की स्थापना-हेतु केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों वाले सांविधानिक प्रावधानों पर पुनर्विचार आवश्यक है।[१९] वस्तुतः पिछले दशक में राज्यों के राजनीतिक अधिकारों की अपेक्षा आर्थिक एवं वित्तीय शक्तियों का तथ्य सामने आया है और राज्य-सरकारों के निरन्तर घाटे के बजट व आय के सिकुड़ते साधनों के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न विचारणीय है कि इन्हें वित्तीय सुदृढ़ता कैसे दी जाये ?

राज्यों की वित्तीय क्षमता में वृद्धि करने हेतु निम्न-लिखित सुझाव दिये जा सकते हैं: (१) राज्यों के राजस्व में वृद्धि करने हेतु कतिपय करारोपण की मदें उन्हें और दी जानी चाहिए, निगम-कर और आय-कर के अधिभार की आय का भी केन्द्र और राज्यों में बंटवारा किया जाना चाहिए। (२) योजनागत और अ-योजनागत अनुदानों के अन्तर को समाप्त किया जाय और राज्यों को आबंटित की जाने वाली अनुदान-राशि देने की निश्चित प्रक्रिया का निर्धारण किया जाय। (३) प्रतीत होता है कि वित्त-आयोग, जिसका संविधान में उपबन्ध किया गया है, एक निष्क्रिय संस्था बन गयी है और योजना-आयोग ने अत्यधिक प्रधानता प्राप्त कर ली है। यदि वित्त-आयोग के द्वारा विभिन्न राज्यों की आर्थिक समस्याओं का वास्तविक अवलोकन करने के पश्चात् आर्थिक अनुदान दिये जाने की व्यवस्था की जाये तो राज्यों में उत्पन्न होने वाला असंतोष कम हो सकता है। वित्त-आयोग को स्थायी सांविधानिक निकाय की श्रेणी दी जानी चाहिए। (४) राज्यों की ओर से बराबर यह शिकायत की जाती रही है कि केन्द्र-सरकार आर्थिक अनुदान देते समय पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाती है और उन राज्यों को अधिक अनुदान दिया जाता है, जिनमें उसी दल की सरकार होती है जो दल केन्द्र में सत्तारूढ़ है। यदि राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान सांविधानिक सत्ता द्वारा निश्चित मानदण्डों के आधार पर देने का प्रावधान कर दिया जाये तो यह शिकायत दूर हो सकती है। (५) यदि उत्पादन-शुल्क लगाने का अधिकार राज्यों को दे दिया जाये तथा राज्यों को अपनी आवश्यकतानुसार सार्वजनिक ऋण लेने का अधिकार प्राप्त हो जाये तो राज्य आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो सकते हैं।

क्या राज्यों के लिये संसाधन जुटाने हेतु केन्द्र के वित्तीय अधिकारों में प्रचण्ड कटौती अपेक्षित है ?[२०] सभी वित्तविशेषज्ञ यह मानते हैं कि गत ३३ वर्षों से राज्य-सरकारों ने अपना व्यय तो तेजी से बढ़ाया, किन्तु इसकी पूर्ति के लिये समुचित वित्तीय साधन विकसित नहीं किये। लोकप्रियता खोने और चुनाव में हार के भय से राज्यों ने नये कर न लगाने की नीति अपनायी तथा व्यय की पूर्ति के लिये केन्द्र पर बार-बार दबाव डाला। अब तक जो केन्द्रीय अनुदान उन्हें मिलता रहा, उसका उन्होंने सही उपयोग नहीं किया। क्या बिना उचित नियन्त्रण-नियमन की व्यवस्था किये राज्यों को और अधिक आर्थिक स्वायत्तता देने से देश में आर्थिक असमानता बढ़ने का खतरा नहीं पैदा हो जायेगा ?

संक्षेप में, सही मार्ग यही होगा कि वर्तमान ढांचे की स्पष्ट दिखायी देने वाली विसंगतियों को दूर करने के लिये तो सभी कुछ किया जाय (संविधान में संशोधन तक भी), किन्तु राज्यों पर केन्द्र के अंकुश को ढीला करने का कोई भी काम काम न किया जाय। केन्द्रीय अंकुश के रहने से राज्यों द्वारा संसाधनों का अपव्यय नहीं होगा तथा विसंगतियों के समाप्त हो जाने से राज्य अपने लिये अधिक उपयोगी विकास-कार्यक्रम बना पायेंगे।

—स्नातकोत्तर राजनीतिविज्ञान विभाग,
राजकीय महाविद्यालय, डूंगरपुर (राजस्थान)

संदर्भ :

१. अल्फेस टी० मेसन, 'दि सुप्रीम कोर्ट पेलेडियम आफ फ्रीडम' (मिचिगन, १९६२), पृ० ८
२. के० संथानम, 'यूनियन स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया' (एशिया, १९६३), पृ० २९
३. 'कांस्टीट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स', खण्ड ७, पृ० ३३
४. एम० वी० पायली, 'कांस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट इन इंडिया' (एशिया, १९७७, पृ०६५५-५७
५. भारतीय संविधान—अनुच्छेद २७५
६. भारतीय संविधान—अनुच्छेद २९२ तथा २९३
७. उपर्युक्त—अनुच्छेद १४८
८. प्रो० पायली ने लिखा है, "वर्तमान स्थिति में राज्यों के पास सीमित साधन हैं और अपनी अधिकांश विकास-योजनाओं के लिये उन्हें केन्द्र की सहायता की आवश्यकता रहती है, इसलिये उन्हें केन्द्र का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ता है—कभी-कभी केन्द्र के आदेशों के आगे झुकना भी पड़ता है।"
एम० वी० पायली, 'कान्स्टीट्यूशनल गवर्नमेंट इन इंडिया' (एशिया, १९७७), पृ०६७८
९. डी० टी० लाकड़ावाला, 'प्लान फाइनेन्सेज इन ए फेडरल इकानामी', योजना, मई १६, १९७९, पृ० ७
१०. उपर्युक्त, पृ० ११
११. जे० एन० शर्मा, 'दि यूनियन एण्ड दि स्टेट्स : ए स्टडी इन फिस्कल फेडरलिज्म' (स्टर्लिंग, १९७४), पृ० १२४-४१
१२. भारतीय रिजर्व बैंक बुलेटिन के विभिन्न अंक। सप्तम वित्त-आयोग का प्रतिवेदन, अध्याय २, पृ० ११६ अनुमानित
१३. नवभारत टाइम्स (नयी दिल्ली), मई २३, १९७९, पृ० ४
१४. उपर्युक्त, मई १४, १९७९, पृ० १
१५. 'वेस्ट बंगाल गवर्नमेंट्स मेमोरेण्डम : सेन्टर स्टेट रिलेशन्स', पीपुल्स डेमोक्रेसी, २ (२), ८ जनवरी १९७८, पृ० ५-८
१६. तमिलनाडु—'सेन्टर-स्टेट इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट' (मद्रास, १९७१)
१७. एम० एस० धामी, 'पालिटिकल पार्टीज एण्ड स्टेट औटोनोमी इशू : ए केस स्टडी आफ अकाली दल'। के० आर० बम्ववाल (सम्पादित) 'नेशनल पावर एण्ड स्टेट औटोनोमी' (मीनाक्षी प्रकाशन, १९७७), पृ० १४४-६१
१८. एस० आर० माहेश्वरी, 'दि एडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्म्स कमीशन' (आगरा, १९७२), पृ० १२५-२७
१९. सन् १९७८-७९ के सामान्य बजट पर बोलते हुए कर्णाटक के वित्तमंत्री ने इसी तथ्य पर बल दिया है। —'दि टाइम्स आफ इण्डिया', जुलाई ३, १९७८
२०. यह एक तथ्य है कि वित्त-आयोगों ने भी समय-समय पर केन्द्रीय आयकर में राज्यों का भाग बढ़ाने की संस्तुतियाँ कीं और परिणामस्वरूप आज आयकर का ८८ प्रतिशत भाग राज्यों को दिया जाता है, जब कि सन् १९५० में राज्यों को ५५ प्रतिशत भाग ही मिलता था।

गणाचार

भीष्म उवाच

गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम ।
वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ॥

भरतश्रेष्ठ ! गणराज्यों और कुलों में वैर की अग्नि प्रज्वलित करने वाले ये दो दोष हैं—लोभ और अमर्ष (ईर्ष्या) ।

लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम् ।
तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यं च विनाशिनौ ॥

पहले एक व्यक्ति लोभ का वरण करता है, तब दूसरे के मन में अमर्ष उत्पन्न होता है तथा वे दोनों ही क्षय और व्यय की हानियाँ उठाते हुए भी एक-दूसरे को नष्ट करने में जुट जाते हैं ।

भेदे गणा विनेशुर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ॥

परस्पर फूट पड़ने से ही गण या संगठन नष्ट हुए हैं । फूट होने पर शत्रु उनको सरलता से जीत लेते हैं । अतः गणों को सदैव संगठित होकर विजय के प्रयत्न करने चाहिए ।

ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति सुश्रूषन्तः परस्परम् ।
विनिवृत्ताभिसंधानाः सुखमेधन्ति सर्वशः ॥

ज्ञानी जन एक दूसरे की सुश्रूषा करने वाले गण-सदस्यों की प्रशंसा करते हैं, जिनमें परस्पर छल करने की दुर्भावना नहीं होती और जो सबके सुखों की वृद्धि करते हैं ।

पुत्रान् भ्रातॄन् निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान् सदा ।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥

गणराज्य के श्रेष्ठ पुरुष कुमार्ग पर चलने वाले अपने पुत्रों और भाइयों को भी दण्डित करते और विनयशील बनाते हैं तथा सुशील होने पर उन्हें अपनाते और उन्नति करते हैं ।

कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः ।
गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम् ॥

कुलों में कलह उत्पन्न हो जाने पर उनके वृद्ध पुरुष यदि उपेक्षा करते हैं तो वे कलह गणों में फूट डालकर कुलों का नाश कर देते हैं ।

—महाभारत, शान्तिर्वपणि राजधर्मानुशासनपर्व

डा० श्याम बिहारी राय

भारतीय जातीय समरसता

इतिहास एवं इतिहासकार का काम न तो अतीत से प्रेम करना है और न अतीत के व्यतीत मूल्यों को वर्तमान में लागू करना है। बल्कि इतिहासकार का कार्य वर्तमान की परिस्थिति को समझने के लिये एवं उलझे हुए समकालीन प्रश्नों की अगला को खोलने के लिये अतीत के तथ्यों को कुंजी के रूप में प्रयुक्त करना है। वर्तमान को समझने के लिये अतीत से सीखना है और अतीत के आलोक में वर्तमान को समझना है। इतिहास का कार्य इतना ही है कि वह व्यतीत हुए मूल्यों के आधार पर वर्तमान को समझते हुए भविष्य का निर्धारण करे। किसी भी राष्ट्र एवं जाति के लिये जीवन्त इतिहास का चिन्मय रूप ही पाथेय होता है। इसी सन्दर्भ में आज के समकालीन मूल्यों को समझना है। अतीत को यदि वर्तमान को समझने के लिये प्रेरणा-स्रोत बनाना है तो अतीत में हुई घटनाओं का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन एवं विचार करना आवश्यक है, तभी किसी राष्ट्र या जाति को आगे बढ़ाया जा सकता है। देखना है कि भारतीय जाति का क्या स्वरूप था तथा सामाजिक परिवेश में जाति-विभाजन एवं जाति-भेद का स्तर किन रूपों में गुजरा है तथा इससे राष्ट्र-चक्र कितना प्रभावित हुआ है।

जाति का सामान्य भारतीय स्वरूप

'समान प्रसवात्मिका जातिः' के अनुसार समान प्रसव के आधार पर जो पैदा होता है, उसकी एक जाति है। यदि जाति की भारतीय दृष्टिकोण से समाजशास्त्रीय व्याख्या की जाय तो 'मानववाद' का जीवन्त रूप सामने आता है। परन्तु ऐतिहासिक विकासक्रम के अनुसार जैसे-जैसे समाज का रूप परिवर्तित होता गया, उत्पादन के स्तर पर तथा व्यवसाय के आधार पर जो वर्ग समाज पर हावी हो गया, उसकी एक विशिष्ट जाति बन गयी तथा उस वर्ग ने अपने नीचे के स्तर वालों को निम्न मानना प्रारम्भ किया। जो जिस वर्ग का रहा, उसकी वह जाति हो गयी। हाँ, ऐतिहासिक विकासक्रम में उस वर्ग ने अपने 'गुरुडम' के आधार पर अपना स्थान ऊँचा बना लिया। इसके लिये अलग से जातीय समाजशास्त्र की

रचना की। फिर भी, अन्य पश्चिमी देशों जैसी दास-प्रथा यहां नहीं थी। अभिप्राय क्रीत दास प्रथा से है। पश्चिम में क्रीत दासों से न जाने क्या-क्या अमानवीय कार्य कराये जाते थे, उस प्रकार का कोई समाज भारत में नहीं था। यदि था भी तो दासों के प्रति भी नरमी एवं सहिष्णुता का भाव ही स्थापित था। दासों को नरपशु नहीं माना जाता था।

भारत जातीय संगम का विराट् महार्णव

भारत नानाविध मानव-जातियों का विशाल समुद्र है। आर्य, किरात, शक, हूण, यूची, शवर, पुलिन्द, मंगोल, यवन, खस, भील, आभीर, निषाद, तुर्क, मुगल, पठान आदि जातियों की विपुल उत्ताल लहरें इस समुद्र को प्लावित करती हैं। कहीं भी सन्देह, घृणा, परस्पर विद्वेष की भावना नहीं, सब समरस है। हां किसी नयी जाति के आने पर राज्य-विस्तार एवं जातीय घृणा के आधार पर युद्ध होते रहे, पर युद्ध होने के पश्चात् बस जाने पर, स्थापित हो जाने पर, घृणा मिटती गयी तथा एक दूसरे के धर्म एवं रीति-रिवाजों को समझने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी। यही भारतीय जातीय समुद्र का ऐतिहासिक स्वरूप है। न जाने कितने युगों से इस देश में जातियों की लहरें आती रहीं और सब भारतीय भावधारा में समाहित होती गयीं।

इस्लाम के आने पर देश में कुहराम मच गया। पूर्वशः स्थापित हिन्दू जाति के आचारों पर प्रहार होने लगा। परन्तु जब इस्लाम बस गया तो परस्पर जातीय समन्वय की जो गंगा जमुनी धारा बही, वह अत्यन्त दर्शनीय है—धर्म के क्षेत्र में, शिक्षा के क्षेत्र में, कला के क्षेत्र में एवं राजनय के क्षेत्र में। अर्थात् जीवन के सर्वांगीण क्षेत्र में हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों का संगम होता गया। इसके बाद क्रीस्त लहर जो आयी, वह व्यावसायिक दृष्टि की थी। समरस होने की बात कम, इस देश से धन लेकर बरमिंघम एवं मेनचेस्टर को सजाने की बात थी। परन्तु इस भावधारा ने भी प्रभावित किया। पूर्व का द्वार पश्चिम के लिये खुल गया। सारा ज्ञान-विज्ञान एक दूसरे के निकट आया। पूर्व की आध्यात्मिकता एवं पश्चिम की वस्तुपरकता—दोनों का सम्मिश्रण हुआ। आध्यात्मिकता तो कम हो गयी, भौतिकता बढ़ गयी। इसी भौतिकवादी लहर ने परस्पर घृणा, द्वेष एवं विद्रोह को जन्म दिया है, जिससे अनेकों प्रकार के संकट आ रहे हैं। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये घृणित से घृणित जातिभेद फैला कर भी काम निकाला जा सकता है, यह सूझ उसी भौतिक वस्तुपरकता की देन है। नैतिक दृष्टि का ह्रास एवं भौतिकवादी मनोवृत्ति का विकास ही इसका प्रमुख कारण है, जबकि हिन्दू मुस्लिम लहर ने जीवन को अधिक विषाक्त नहीं किया था।

शक, हूण, यूची, यूनानी, मंगोल, पार्थियन, बैक्ट्रियन आदि भारतीय भावधारा में समाहित होकर समरस हो गये। भारत का सांस्कृतिक मानस उस समय सबको पचा लेने में समर्थ था। ये सभी अपनी जातीय भावना और स्तर को लेकर भारतीय वर्ण-व्यवस्था में खप गये। इतना अवश्य है कि मध्यकालीन संस्कृति में दोष था, परन्तु सम्मिलन की प्रक्रिया भारतीय रही। कहा जा सकता है कि पूर्व-मध्यकाल (तात्पर्य हर्ष के पश्चात् ७ वीं-८वीं शती के पश्चात् की भारतीय जीवन-दर्शन की व्यवस्था से है) तन्त्र-साधना एवं जातीय दृष्टिकोण से पतन का काल था। फिर भी समाज में गति थी। इसके पूर्व के सभी आने वाले विदेशी तत्त्वों को भारतीय रस में घोल दिया गया। परन्तु जब पूर्व-मध्यकाल की सांस्कृतिक सरिता विषाक्त हो गयी, तब और आने वाली विदेशी लहर को कैसे आत्मसात करती? भारत का सांस्कृतिक प्रवाह सूख गया तथा स्थान-स्थान पर विकृति का गन्दा पानी एकत्र हो गया। इसी ने क्षेत्रवाद को जन्म दिया। क्षेत्रवाद एवं जातिवाद का निकृष्ट काल यही है। भारतीय जन क्षेत्रीय रूप में सोचने लगा। कोई कान्यकुब्ज, कोई कर्णाट, कोई तैलंग, कोई आन्ध्र, कोई बंग, कोई मागध के रूप में तो कोई उदीच्य-प्रतीच्य के रूप में सोचने लगा। राजतन्त्र में भी परिवर्तन आ गया। इस काल में कोई उत्तरापथनाथ तो कोई दक्षिणापथ-पथेश्वर के रूप में भारतीय क्षितिज पर आने लगा। अर्थात् इस काल में सांस्कृ-

तिक एकता एवं जातीय एकता की भावना समाप्त हो गयी।

लोग क्षेत्रीय एवं जातीय दृष्टिकोण से अधिक सोचने लगे, अतः भारतीय संस्कृति के पतन का काल प्रारम्भ हो गया। इसी कारण आने वाली इस्लामी लहर को भारत आत्मसात नहीं कर सका। एक ही झटके में तराइन से लेकर गौड तक की लज्जाजनक हार हो गयी। भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान-गरिमा का विशाल केन्द्र नालन्दा-विश्वविद्यालय इसी चपेट में भूलुण्ठित हो गया। वह भी क्यों? इसीलिये कि सामूहिक एकता की भावना समाप्त हो गयी तथा क्षेत्रीय दृष्टिकोण प्रबल हो गया। इससे सारे देश की महती हानि हुई। कोई कह सकता है कि क्षेत्रीय दृष्टिकोण की भावना इससे पहले भी थी। अवश्य थी। परन्तु जातीय घृणा एवं घनघोर असहिष्णुता की विषाक्त भावना जितनी ६०० ई० के पश्चात् प्रारम्भ हुई, उतनी इसके पहले प्राचीन भारतीय इतिहास में नहीं थी।

इस देश में चक्रवर्तित्व की भावना एवं देश को अपना समझ कर राष्ट्रोत्थान की भावना रही है। महाभारत में इसी भावना का विकास देखा जा सकता है :

अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्॥
महा० भीष्म० ९.९

इसीलिये दिग्विजय की जाती थी। देव विजय की जाती थी, असुर विजय नहीं। "असुमन्तो वै असुराः" के अनुसार असुर प्राणशक्ति वाले को कहते हैं। अर्थात् असुर देहात्मवादी थे। उनकी नैतिक दृष्टि भोगवादी थी। असुर अर्थात् असीरियन ईरानी थे। असुर एवं देव एक ही वंश के थे, परन्तु दर्शन में भिन्नता थी। अहुर मज्दा को मानने वाले असुर एवं इन्द्र को पानने वाले सुर (देव) थे। यह ऐतिहासिक बहक है कि 'इण्डो यूरोपियन' भाषाभाषी लोग एक स्थान पर रहते थे तथा उनकी लहर (जातीय) ईरान होते हुए भारत में आयी, जो लोग ईरान में बसे वही 'इण्डो-ईरानी' हैं तथा जो लोग इधर बढ़े वही भारतीय अर्थात् सुर (देव) हैं। तथ्य यह है कि 'असीरियन कल्चर' के लोग अपनी विजय में विजित प्रदेश को उजाड़ देते थे, 'कत्लेआम' करते थे, उसके पश्चात् प्रतिस्थापित होते थे। इसके विपरीत, सुर या आर्य (भारतीय) विजय करते थे, परन्तु नैतिकता के आधार पर समरस होकर उदारता का व्यवहार करते थे। केवल विजित की 'श्री' ले लेते थे, मेदिनी नहीं। इसी को कालिदास ने 'रघुवंश' में कहा है—

ग्रहीतप्रतिमुक्तस्य सधर्म विजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥४.४३॥

कहने का तात्पर्य यह कि जाति-भेद इतना भयानक नहीं था कि मानवमात्र से भारतीय घृणा करते। इसके विपरीत, वे समाज-व्यवस्था में सबको स्थान देकर, समरस बनाकर मिला लेते थे।

जातीय दम्भ एवं प्रजातीय वर्जनशीलता का अभाव

भारतीय परिवेश में कभी भी जातीय दम्भ और प्रजातीय वर्जनशीलता की भावना नहीं रही। अनेक प्रजातियों (रेसेज) का विशाल संग्रहालय यह भारत है। सब जातियों का परस्पर संगम एवं मिलन होता दिखायी पड़ता है। काले से काले ब्राह्मण एवं गोरे से गोरे शूद्र यहाँ यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। यह जातीय एवं प्रजातीय मिलन का उदात्त दृष्टान्त है। भारत में प्रजातीय श्रेष्ठता की भावना नहीं थी। असवर्ण (अनुलोमादि) विवाहों के आधार पर भी जातियाँ एक-दूसरे से मिल कर सन्तानोत्पत्ति करती थीं।

भारतीय दर्शन के व्याख्याता व्यास, जो मत्स्यगंधा (निषादी) एवं पराशर (ब्राह्मण ऋषि) से उत्पन्न हुए थे, जातीय सम्मिलन के जीवन्त मूर्तिमान रूप हैं। भीम का हिडिम्बा से सम्बन्ध एवं अर्जुन का नाग-कन्या उलूपी एवं चित्राङ्गदा से सम्बन्ध तथा कृष्ण का गोप कुल की जाम्बवती से सम्बन्ध भी जातीय समन्वय का मूर्तिमन्त रूप है। महाभारतकालीन संस्कृति तो

अपूर्व जातीय संगम की संस्कृति है। इन उदाहरणों से देखा जा सकता है कि इस देश में प्रजातीय वर्जनशीलता की भावना नहीं थी।

प्रजाति का जैसा अवैज्ञानिक रूप अंग्रेजों ने इस देश के सन्दर्भ में खींचा है, वह कभी भी इस देश के परिवेश में नहीं रहा। प्रजातीय अस्त्र भी अंग्रेज इतिहासकारों ने इसलिये प्रयुक्त किया कि भारतीयों में जाति-भेद फैला कर उन्हें दास बनाये रखा जाय। परन्तु किसी भी प्रजाति की निश्चित शारीरिक अवधारणा न तो भारत में है और न विश्व के किसी भाग में है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि गोरी जाति के लोग अधिक बुद्धिमान हैं तथा काली-पीली जाति के लोग बुद्धिहीन हैं, क्योंकि 'मंगोलियन रेस' के जापानी यह सिद्ध कर चुके हैं कि बुद्धि पर किसी गोरी जाति का ठेका नहीं और न वे ही व्यापार-वाणिज्य में कुशल हो सकते हैं। दूसरा भारतीय दर्शन और चिन्तन का उदाहरण लीजिए। भारतीय औपनिषदिक आध्यात्मिक दर्शन विश्व-दर्शन में सुमेरु के समान खड़ा है। औपनिषदिक गंगा से निथरा बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन भी उदात्त है। बौद्ध दर्शन ने तो समूचे एशिया को ही प्रभावित किया है। शांति, करुणा, मैत्री एवं दया का अमोघ अस्त्र जो भारत का है, वह किसी भी देश या जाति के पास नहीं, अतः प्रजातीय वर्जनशीलता की दुराग्रही भावना इस देश में स्थापित नहीं रही।

वैदिक संस्कृति एवं जातीय भावना

ऋग्वेद भारतीय दर्शन एवं चिन्तन का महान् विशाल वट-वृक्ष है। सभी भारतीय मान्यताओं का अजस्र प्रवाह वेद में दिखाई पड़ता है। जाति की भावना का रूप ऋग्वेद के दशम मण्डल में है, जहाँ ब्रह्मा (विराट् पुरुष) को प्रतीक मान कर उनके विभिन्न अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति मानी गयी है। वर्ण का अभिप्राय 'वरण करना' होता है। इसका अर्थ व्यवसाय के चुनाव से ले सकते हैं। समाज की संगठनशीलता को धार्मिक एवं सांस्कृतिक रूप देने के लिये ब्रह्मा को रूपक मान कर यह व्यवस्था की गयी। वैदिक जातीय भावना व्यवसाय के चुनाव के आधार पर ही थी। ऋग्वेद में आया है कि पिसनहारिन माँ एवं भिषक पिता का पुत्र अपूर्व मंत्र-द्रष्टा हो सकता है। जहाँ यह उदात्त भावना है, वहाँ कैसे जाति-भेद की कल्पना की जा सकती है? जैसे-जैसे समाज की धारा बढ़ी, वर्ग ने जाति का रूप धारण किया। जो जिस व्यवसाय को करता था, उसकी वह जाति बन गयी। परन्तु फिर भी समाज में गति थी। शूद्र वर्ण के अन्तर्गत सभी निम्न श्रेणी के लोगों को मिलाकर मंगलमय कर लिया गया था। यह तत्कालीन भारतीय समाज की उदात्तता थी, भेदमूलक दृष्टि नहीं थी।

उपनिषदों में इस भावना को देखा जा सकता है। रैक्व-जानश्रुति एवं सत्यकाम जाबाल का उदाहरण विशिष्ट है। सत्यकाम से उसके गुरु ने शिक्षा देने के पूर्व पूछा था कि तुम्हारी क्या जाति है या क्या गोत्र है? तब सत्यकाम ने अपनी माँ से पूछ कर बताया कि मेरी माँ दासी है तथा मुझे लोग जाबाला का पुत्र सत्यकाम कहते हैं। इस महासत्य के उद्घाटन पर ऋषि ने कहा, "तब तुम निश्चित ब्राह्मण हो। मैं तुम्हें शिक्षा प्रदान करूँगा।" वाजसनेयी संहिता में इसी समरस भावना का विकास देखा जा सकता है—

यथेमां वाचं कल्याणीं मा वदानि जनेभ्यः।
ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय
चारणाय ॥ २६.२

पवित्र कल्याणमयी वेदवाणी को चारों वर्णों के लोग सुन सकते थे। जाति-दम्भ व भेद की कोई भावना नहीं थी। अथर्ववेद में आया है कि—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथ्वी
यथौकसम् ॥ १२.१.४५

यह पृथ्वी अनेक भाषाओं और अनेक धर्म वालों को एक साथ धारण करती है। तात्पर्य अथर्ववेदीय दृष्टि भी समरस है।

इतना अवश्य है कि कालक्रम के पश्चात् विशिष्ट वर्गों

ने अपने लिये उच्चासन एवं स्थान बनाने के लिये अपनी जातीय श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु महात्मा बुद्ध एवं महावीर के रूप में दो महिमामय पुरुषों ने जातीय श्रेष्ठता को चुनौती दी तथा प्रत्येक मानव के लिये धर्म के द्वार खुले रखे।

मानववाद की अद्भुत क्रान्ति

सिद्धार्थ गौतम ने जातीय श्रेष्ठता का भाव समाप्त कर ज्ञान का द्वार प्रत्येक मानव के लिये खोल दिया, जिसमें वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, स्त्री, पुरुष सभी आ सकते थे। उन्होंने सबके लिये धर्म सुलभ किया। समरसता की क्रांति की सार्वजनीन जातीय गंगा भारतीय जीवन में सर्वत्र प्रवाहित होने लगी। तत्कालीन राजन्यों ने भी इस ज्ञानयज्ञ में गौतम का साथ दिया और जातीय श्रेष्ठता की दीवार भरभरा कर गिर गयी। कालक्रम में पुनः ब्राह्मण-श्रेष्ठता का भाव जागरित हुआ।

इतना निश्चित है कि ब्राह्मण-श्रेष्ठता ने जाति-भेद की कटुता नहीं उत्पन्न की। सभी आगन्तुक जातियों को भारतीय धर्म के अन्तर्गत स्थान दिया गया। शक, हूण, यवन, पारद, आभीर आदि जातियों को क्षत्रियत्व की श्रेणी में ला दिया गया। सबको मिला लिया, परन्तु नैतिक दृष्टि से अपना स्थान ऊँचा रखा।

भागवती साधना एवं जाति का समन्वित रूप

इसी काल में भागवती साधना ने क्रान्ति की। भागवत धर्म ने देश में अभिनव क्रान्ति कर दी। कृष्ण की शरण में जाकर सभी शुद्ध हो गये—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्द पुल्कसा
आभीरकंकायवनाखसादयः।
येऽन्ये चपापा यदुपाश्रयाश्रया शुद्ध्यन्तितस्मैप्र-
भविष्णवे नमः॥
भागवत २.४.१८

तुषार, हूण आदि सभी विदेशी जनों को आत्मसात करके शुद्ध कर लिया गया। ईसा-पूर्व दूसरी शती में भागवत धर्म की उदारता ने सबको मिला लिया। हेलियोडोर नामक यवन राजदूत ने भागवत धर्म स्वीकार करके वेसनगर में भगवान वासुदेव का गरुड़ध्वज स्थापित किया। उसी प्रकार मथुरा के शक क्षत्रप शोडाश ने भागवत धर्म अंगीकार किया था। चष्टन वंश का शक क्षत्रप रुद्रदामन भारतीय जातीय गंगा में समाहित होकर मंगलमय हो गया। इस भागवती साधना में स्तेन एवं चाण्डाल भी शुद्ध हो गये। समरसता में सन्तों ने भी योगदान किया। सन्तमत के प्रभाव से भगवान के यहाँ सबकी एक जाति हो गयी। 'जाति पाति पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि को होई।' कहने का तात्पर्य यह कि जाति-भेद या जातीय रक्षण कभी भी प्राचीन भारत में नहीं रहा।

पूर्व-मध्य काल से (६०० ई० के पश्चात्) जब क्षेत्रीय भावना ने बल पकड़ा, तब जाति-भेद बढ़ा। लोग संशयवादी हो गये। अपने कुनबे की ओर ध्यान देने लगे। अतः देश-रक्षा की सामूहिक भावना नहीं रही। फल हुआ विनाश। इस्लाम की लहर ने भारतीय अर्गला को तराइन से गौड़ तक खोल दिया। सब हार गये। क्यों? इसलिये कि जाति-द्वेष एवं क्षेत्रीय दम्भ आ गया था। इस्लाम के स्थापित होने में थोड़ी-बहुत मार-काट हुई, पर तुर्क, मुगल इस देश में स्थापित होकर देश की उन्नति करने लगे। इस देश को अपना मानने लगे। दोनों धर्म-संस्कृतियों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया। सूफी भावधारा का विकास हुआ। सन्तों का उदय हुआ, जो दोनों सम्प्रदायों की एकता के लिये साधक हुए। भक्ति के आचार्यों का उदय हुआ। सूर, तुलसी, कबीर, जायसी, रसखान इसी काल के रत्न हैं।

परन्तु इस देश में जब अंग्रेजों की लहर आयी तो उसने धन कमाया और फूट डालकर जाति-भेद पैदा कर दिया। १५० वर्ष से अधिक न रहकर भी भारतीय दृष्टिकोण को मलिन कर दिया। इतिहास एवं संस्कृति की औघड़ व्याख्या करके हमारे बीच जाति-भेद के विष-बीज बो दिये। 'गजेटियर'

एवं 'सेन्सेस' में जाति-उच्चता एवं नीचता की अनर्गल व्याख्या कर हमारे सांस्कृतिक मानस को छिन्न-भिन्न कर दिया। इतिहास की रचना भी भेदपरक दृष्टि से की गयी। अतः यदि समय रहते नहीं चेता गया तो राष्ट्र की महान् हानि होगी। मतभेद के कुपरिणाम से इस देश का विभाजन हो गया। अतः प्रबल राष्ट्रीय ऐतिहासिक उदाहरण से शिक्षा लेकर हमें समरस होना पड़ेगा, नहीं तो अकाण्ड ताण्डव का बेसुरा राग राष्ट्र को पतन की ओर ले जायेगा।

भारतीय समरस भावना से कल्याण

समरसता भारतीय जीवन का सत्य है। जातीय दंभ कभी इस देश में नहीं रहा। महाभारत में व्यास ने कहा है—न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्। मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। मानव-श्रेष्ठता के युग में जातीय भेद-दृष्टि के बीज न बोये जायँ। भारतीय संस्कृति का विशाल उदात्त मूल्य हम सबका पाथेय बने। मनुष्यत्व ही जाति है। हम राष्ट्र-यज्ञ में समरसता की आहुति डालें—

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
समानो मंत्र समितिः समानी समानं मनः सह
चित्तमेषाम्॥
अथर्व, १०.१९१. ३-४.

हमारे मन समान मनोरथ वाले हों। हम एक साथ आगे बढ़ें।

इतिहास विभाग, सहजानन्द ब्रह्मर्षि महाविद्यालय, आरा, बिहार

डा० चन्द्रकान्त भारद्वाज

राष्ट्र बने परिवार

सामाजिक एकात्म-भावना का अत्युत्तम उदाहरण भारतीय परिवार है। यों तो मानव-शरीर, वृक्ष अथवा किसी भी जीवमान वपु का उदाहरण एकात्म-वाद के परिपोषण के लिये दिया जा सकता है, किन्तु राष्ट्र के संदर्भ में एकात्मता की तुलना किसी एक जैविक रचना से करना युक्तिसंगत नहीं है। राष्ट्र के विभिन्न घटक जीव-शरीर के अंग-उपांगों के समान नहीं हो सकते। कारण यह कि अंग कभी अंगी (शरीर) से अलग नहीं रह सकता, न इसका जन्म अलग होता है, न मृत्यु ; न इसका चिन्तन अलग हो सकता है, न हित-सम्बन्ध। दूसरी ओर, समाज के घटक अलग-अलग समय पर जन्म लेते हैं, अपनी-अपनी विशिष्ट रुचियों और क्षमताओं के साथ जीते हैं, अलग-अलग समय पर मरते हैं, परन्तु समाज-प्रवाह अजस्र धारा के समान चलता रहता है। अनेक व्यक्तियों की रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ समाज की सामान्य प्रवृत्तियों से भिन्न या विशिष्ट हो सकती हैं। अनेक व्यक्ति समाज के हितों के विरुद्ध भी कार्य करते देखे जाते हैं। समाज व्यक्तियों का संश्लिष्ट, सूत्रबद्ध समुच्चय होता है। न तो वह मात्र व्यष्टियों का योग अथवा एकत्रीकरण है और न इतना संश्लिष्ट ही कि शरीर के अवयवों के समान, 'व्यक्तियों' की सत्ता उसके अंगमात्र के समकक्ष रह जाय। अतः भारतीय संयुक्त-परिवार सुसंगठित राष्ट्र अथवा एकात्ममानववाद पर आधारित समाज का सर्वाधिक उपयुक्त उपमान माना जा सकता है।

भारतीय संयुक्त परिवार को अन्य राष्ट्र-समाजों के परिवार से कुछ विशेष मानना पड़ेगा। भारतीय संयुक्त परिवार का मस्तिष्क प्रायः वयोवृद्ध 'मुखिया' होता है और हृदय होती है 'माता'। अन्य समाजों में, विशेषतः पश्चिमी जगत् में, सर्वाधिक समर्थ पुरुष परिवार का 'मुखिया' होता है, और उसकी 'पत्नी' गृहस्वामिनी। 'बड़े-बूढ़ों' अथवा 'माता' को तो प्रायः अलग आश्रमों में भरती करा दिया जाता है, जिससे वे नव-दम्पतियों अथवा विकासशील युवक-युवतियों की गतिविधियों में बाधा न बनें। यह भी सामान्य प्रथा है कि विवाह होते ही नव-दम्पति परिवार से अलग रहने लगते हैं और एक नये परिवार

का सूत्रपात पाणिग्रहण-दिवस से ही हो जाता है। सभी सम्बन्धी भेंट आदि भी इस प्रकार देते हैं कि नव-दम्पति अपना घर सुविधापूर्वक अलग बसा सकें। इसके विपरीत, भारतीय परिवार में नववधू का आगमन सभी के लिये उत्साह का प्रसंग होता है। सास-सुसर, जेठ-जेठानी, देवर-ननद, भतीजे-भतीजी, ये सब नवागंतुक युवती के साथ शीघ्रातिशीघ्र आत्मीयता निर्मित कर लेते हैं और कुछ ही दिनों में सब कुछ सहज और अभिन्न हो जाता है। नये विवाह से परिवार का मानो कोशिका-विभाजन नहीं, अभिनव संपोषण होता है।

इसका कारण है पाश्चात्य समाजों में अर्थ-काम की प्रधानता, जबकि भारतीय समाज में 'अर्थ-काम' की धारा को 'धर्म' तथा 'मोक्ष' की मर्यादाओं में होकर बहना पड़ता है। इनमें से धर्म वह तत्त्व है जो परिवार के सदस्यों को आत्म-केन्द्रित अथवा स्वार्थी नहीं बनने देता और उनमें पारस्परिक एकात्मभाव को परिपुष्ट करता है।

भारतीय सभ्यता में यों भी संयुक्तीकरण अथवा आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति अधिक है। मुंहबोले भाई-बहन, चाचाजी, माताजी आदि सम्बन्ध स्थापित कर लेना भारतीयों का सहज स्वभाव है। दो-चार घण्टे साथ यात्रा हो गयी तो जीवन भर के बहिन या भाईचारे, माता-पिता या बेटी-बेटे के सम्बन्ध पक्के हो जाते हैं। सहेलियों की संतानें मौसी-मौसाजी के सम्बन्ध ऐसे ही मानती हैं जैसे नाना-नानी के। गाँवों में तो सब चाची-ताई-दादी या दीदी अथवा चाचा-ताऊ, दादा-बाबा बने होते हैं। कुछ वर्षों पहले तक घर की जमादारनी को भी 'ताई' कहने की प्रथा चलती थी।

इस प्रकार भारतीय समाज में परायों से भी अत्यंत शीघ्र परिवार का नाता जोड़ने और परिवार के लोगों को अपने से भी प्रिय मानने की प्रवृत्ति है। अन्यत्र लक्ष्मण-भरत या बलदाऊ अथवा पांडवों जैसे अनुरागभरे, आज्ञाकारी भाइयों के उदाहरण ढूंढना कठिन है। यह विशेषता सम्भवतः हिन्दू समाज की अधिक है, क्योंकि मुसलमानों और ईसाइयों में तो चचेरे-मौसेरे भाई-बहिन के प्रेम-विवाह हो सकते हैं और इतिहास साक्षी है कि राज्य अथवा प्रेम के कारण भाई-भाई अथवा बाप-बेटे में भी प्रतिद्वन्द्विता हो सकती है। जो ईसाई या मुसलमान परिवार उपासना-पद्धति के परिवर्तन के बाद भी अपनी हिन्दू संस्कृति, दूसरे शब्दों में हिन्दू राष्ट्रीयत्व, को बनाये हुए हैं, उनमें भी भारतीय पारिवारिक प्रवृत्ति प्रबल रूप में परिलक्षित होती है। गांवों में मुंहबोले पारिवारिक नाते मजहब-संप्रदायों की सीमाएं लाँघ कर पनपते हैं। हुमायूं बादशाह और मेवाड़ की महारानी कर्मवती के बीच राखी के द्वारा भाई-बहिन के सम्बन्ध की स्थापना इसी प्रवृत्ति का स्वस्थ विस्तार माना जा सकता है। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति 'पारिवारिक संस्कृति' है और भारतीय समाज 'परिवार -आधारित' समाज है।

इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा देखी जा सकती है पशु, पक्षी, नदियों, पहाड़ों से भी पारिवारिक नाता जोड़ने में। भारत माता, गंगा मैया, गोमाता, चन्दामामा, तुलसी माता, बड़दादा, पवनसखी, मेघदूत, काक-भुशुंडी गुरु, गरुड़ देवता आदि शब्द-प्रयोग इसी पारिवारिक भावना के साक्षी हैं, जो जड़-चेतन की सीमा लांघ कर अनन्त ब्रह्मांड तक स्वयं को परिव्याप्त करती है।

दीनदयाल जी ने इसी राष्ट्रीय एकात्मता को प्रखरता से अनुभव किया था। यह अनुभूति उनकी आत्म-संभूत अखंड-अद्वैत चेतना की अभिव्यक्ति थी। इसी कारण जिस सहजता और स्वाभाविकता के साथ वे एकात्म मानववाद का सिद्धान्त प्रस्तुत कर सके और जटिल से जटिल एवं संश्लिष्ट से संश्लिष्ट विषय-क्षेत्रों में उस एकात्म-दर्शन के प्रमेय को सरलता से प्रतिफलित कर सके, वह किसी योगी के लिये ही सम्भव है। ब्रह्मांडव्यापी उस एकात्मभावना का राष्ट्रीय एकात्मता में प्रकटीकरण, उनके जन्मजात पारिवारिक स्नेह का प्रसार और उनके अपरिमित ममत्व का विस्तार था।

अपने सहयोगियों से उनके पारिवारिक सम्बन्ध थे।

राजनीति में प्रवेश के बाद भी उनके सम्बन्धों में कभी राजनीति नहीं आयी, उल्टे आत्मीयता का भाव राजनीतिक क्षेत्र में भी आया। जनसंघ-कार्यकर्ताओं का तो एक परिवार बन ही गया, अन्यान्य राजनीतिक दलों के व्यक्तियों से भी उन्होंने मधुर सम्बन्ध स्थापित किये। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक नीतियों के तीखे मतभेद भी पारस्परिक सौहार्द के आड़े नहीं आये। अनेक निर्दलीय महानुभाव ही नहीं, उनके अनेक विरोधी भी व्यक्ति के नाते उनकी ओर आकर्षित हुए थे, जिन्होंने उनकी मृत्यु पर गहरा खेद और उनके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। विविधता में एकता स्थापित करने वाले, मतभेदों में सामंजस्य अनुस्यूत करने वाले, विरोधी प्रकृतियों के अनेक जनों में समन्वय-निर्माण करने वाले सर्वंकश-सर्वस्पर्शी व्यक्तित्व का अत्युत्तम उदाहरण थे दीनदयाल जी।

अनुमान है कि भारत के कोने-कोने में कम से कम दसियों हजार लोगों से दीनदयाल जी के पारिवारिक सम्बन्ध रहे होंगे। अकेले उत्तर प्रदेश में ही कई हजार घरों में उन्होंने पारिवारिक सम्बन्ध बनाये होंगे। सैकड़ों परिवारों में तो उनके साथ मैं भी गया हूं और उनकी आत्मीयता की गहराई, निस्संग ध्येय-वादिता के बीच महकती मिठास एवं सतत हितचिंतन की सान्द्रता साथ रह कर अनुभव की है। विविध क्षेत्रों में मुझ जैसे अनेक साथी उनकी इस व्यापक परिवार-भावना स्थापित करने की क्षमता का साक्ष्य दे सकते हैं। अपने सहयोगियों ही नहीं, संपर्क में आने वाले प्रत्येक राष्ट्र-बन्धु की सुविधा और आवश्यकता का वे जिस सहजता से ध्यान रखते थे, लगता था कि सबके प्राण उस एक प्राण से अभिन्न नाते में जुड़े हुए हैं। मानो उनके हृदय में असीम आकाश सा एक विशाल सुधाकलश था, जिसमें से स्नेहामृत वे समान भाव से सभी पर छलकाते रहते थे और वह मंगलघट कभी रीता नहीं होता था। उस पूर्ण में से द्रवित करुणाधारा चाहे जितनी बह निकले, वह मानसरोवर पूर्ण ही बना रहता था।

इससे भी बढ़कर विशेषता थी उनका दीपस्पर्श अथवा चुम्बकीय स्पर्श। पारस-स्पर्श बड़ा चमत्कारपूर्ण माना जाता है, जो बड़े से बड़े और जंग लगे लौह-पिंड को भी स्वर्ण बना देता है, पर वह कोई और पारस नहीं बना सकता। दीप-स्पर्श इससे अधिक चमत्कार-पूर्ण है, जो लौ सुलगा कर असंख्य दीप तैयार कर सकता है। चुम्बकीय स्पर्श भी शक्तिहीन लोहे के टुकड़े के कण-कण को दिशा देकर एक चुम्बक से अनेक बना सकता है। दीनदयाल जी ने अपने जैसे कार्य-कर्ताओं की टोलियाँ देशभर के प्रत्येक प्रान्त, प्रत्येक जनपद तक निर्मित की थीं।

आपबीती अधिक विश्वसनीय होती है। १९५४ में मेरे विवाह में पं० जी बारात में तो थे ही, विदा कराकर लाने वाले चार कुंआरे भाइयों में भी वे थे। बड़े आग्रह से उन्होंने मेरी ससुराल में चौके में बैठकर खाना खाया था। १४ वर्ष बाद फिर वे घर में आये। पत्नी को पहिचान कर शिकायत की कि वे पहले के समान हंसमुख नहीं हैं। साथी श्री गोखले जी ने कहा कि घर में पांच लड़कियाँ आ चुकी हैं। "चिंता क्यों करती हैं आप ? मैं भारत भर में घूमता हूं, अच्छे-अच्छे लड़के ढूंढ कर दूंगा। दामाद भी तो पुत्र-समान ही होते हैं।" उन्होंने कहा था।

अटल जी भी उन चार कुंआरों में थे। उनसे पत्नी की भेंट हुई २२ वर्ष बाद, जब आपातकाल में मैं मीसा के अंतर्गत तिहाड़ जेल में था और वे (अटल जी) रोगशय्या पर आयुर्विज्ञान-संस्थान में। इतने लम्बे अन्तराल के बाद भी एक सगे भाई के समान उन्होंने सांत्वना दी, आशा बंधायी। घरेलू बातचीत और व्यवहार ऐसा, मानो एक ही परिवार हो।

यह था वह 'दीप-स्पर्श', जो स्व० दीनदयाल जी ने अनेकों में ज्योतित-जागरित किया और उन्हें भी आगे ज्योतित, जागरित करने की क्षमता दी। वर्षों के बाद सहस्रों सामान्य व्यक्तियों जैसे मुझे या मेरी पत्नी को भूल जाना या उपेक्षा करना सरल और स्वाभाविक था, स्मरण रखना और आत्मीयता बनाये रखना—भौतिक दूरी रहते हुए भी हार्दिक निकटता को अक्षुण्ण रखना—यह उनके एकात्मवाद का ही व्यावहारिक स्वरूप था। यह दूसरी बात है कि कोई नीरस पाषाण

निरन्तर उनकी विचारधारा के गंगा-प्रवाह में रहते हुए भी उस एकात्मपावित्र्य से सूखे रह गये हों, परन्तु इससे उस गंगा का माहात्म्य कम नहीं होता। उसकी अमृतमयी आत्मीयता को अपने रोम-रोम तक पहुंचा कर उससे मन-मस्तिष्क का अभिसिंचन करना, अपने तन-मन-आत्मा को पुलकित करना, प्रफुल्लित करना और आत्मानन्द-विभोर होना अपना अहोभाग्य समझना चाहिए।

फिर भी, यह भी सच है कि उनके सम्पर्क में आये हुए लोग जब अन्य लोगों की विकृत वृत्तियों, संकुचित निहित स्वार्थों की दंभभरी प्रवृत्तियों को देखते हैं तो स्वर्ग से पतित नहुष की सी गति का दुःखद अनुभव उन्हें होता है। नेता लोग वोट-याचना करते हुए हाथ में सूची उठाये घर-घर घूमते हैं तो कैसा अपनापन प्रदर्शित करते हैं! किन्तु वे ही निर्वाचित हो जाने पर, विशेषतः मंत्री आदि पद प्राप्त कर लेने के बाद, अपने साथियों को पहिचानते तक नहीं, नमस्कार को स्वीकारते भी उन्हें कष्ट होता है। उनकी कोठी पर भूल कर या किसी परिस्थिति की विवशता से चले जाइए तो पानी भी पूछते नहीं। यहाँ तक कि लगता है उनकी मुस्कराहट भी मँहगे भाव बिकती है।

काला बाजार और तस्करी करके वर्ष-दो वर्ष में ही लखपति बन जाने वाले नवधनाढ्य भी मनुष्य को मनुष्य नहीं समझते। उनके विचार से बड़े से बड़ा राजनीतिक नेता और आदर्शवादी खरीदा जा सकता है—कोई कम दामों में, कोई अधिक में। उनकी अगली पीढ़ी स्कूल कालिजों में पढ़ने में ध्यान देना अपनी शक्ति का अपव्यय समझती है, क्योंकि उनका विश्वास है कि विश्वविद्यालयों के श्रेष्ठतम विद्यार्थियों को अपने यहाँ नौकर रखने की क्षमता उनमें है। इस प्रकार के लोगों को जब कोई सौदा करना होता है या किसी से काम निकालना होता है तो तपाक से मिलते हैं, स्वागत करते हैं, एक स्थायी 'सैफोराइज्ड' मुस्कान उनके नवनीत-मुखमंडल पर नृत्य करती है। परन्तु काम निकलते ही असम्बन्धित व्यक्तियों के प्रति वे पाषाण-कठोर मुद्रा धारण कर लेते हैं।

पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थी अपने स्तर से नीचे के लोगों से बात करना भी पसन्द नहीं करते। गरीब बच्चों में तो उनको बदबू आती है, परन्तु मदर टेरेसा के पतितपावन रूप का गुणगान करते हुए वे रोमांचित हो जाते हैं।

अध्यापक से 'प्रिंसिपल' या लिपिक से 'आफिसर' बनते ही अनेक लोगों का अपने कल तक के सहयोगियों के प्रति व्यवहार बदल जाता है। एक विचित्र सी अधिकार-गंध, एक अवर्णनीय यांत्रिकता, न जाने कैसी एक हृदयहीनता उनमें आ जाती है। चकित मन पूछता है—ऐसा क्यों? वह पुराना अपनापन कहाँ गया? वह बेबाकी कहाँ हवा हुई? कहाँ है एकात्म मानववाद यथार्थ जीवन में?

आई० ए० एस० आदि ऊँचे पदों को प्राप्त करते ही तो खासे भले लोग भी स्वयं को किसी निराली स्वर्गिक सृष्टि का वासी मानने लगते हैं। अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से बात या व्यवहार करने की उनकी अपनी संभ्रान्त धारणाएं और परम्पराएं हैं, जिनमें गरिमा अधिक है, आत्मीयता नगण्य है।

पद, धन, यश, बल ही नहीं, जिन्हें भाग्य से जन्मना तथाकथित उच्च कुल, सुन्दर रूप मिल गया, अथवा जिन्होंने धारा-प्रवाह में आकर या वातावरण से प्रभावित होकर कभी कुछ तप, त्याग, परोपकार या कर्तव्य-पालन कर लिया, कालांतर में उनमें से भी कई लोगों के मन में अहंकार आ जाता है। कुछेक तो इतने अधिक आत्म-मुग्ध हो जाते हैं कि सामान्य लोगों को अपने राजपथ के किनारे कुलबुलाते हुए क्षुद्र कीड़ों के समकक्ष ही नगण्य, अविशेष, उपेक्षणीय समझने लगते हैं। विरले ही दीनदयाल जीवन की अंतिम घड़ी तक सच्चे निरहंकारी बने रहते हैं। एक बार हम दोनों मैनपुरी से दिल्ली एक लेखक-सम्मेलन में भाग लेने के लिये आये। दिल्ली जंकशन पर उतरे तो न तो कुली को बुलाने दिया और न मुझे अपना बिस्तर उठाने दिया। हमने अपना-अपना बिस्तर रखा कंधे पर और अटैची सम्हाली हाथ में, बाहर आकर ताँगे में बैठकर संघ-कार्यालय पहुँचे।

तब वे संघ के सह-प्रांत-प्रचारक के पद से मुक्त होने के बाद जनसंघ के अखिल भारतीय महामंत्री बन चुके थे। उनका कहना था कि अपने-अपने क्षेत्र में हमारे स्वयंसेवक साथी हमें सामान को हाथ भी नहीं लगाने देते तो कम से कम ऐसे अज्ञात स्थानों पर अपना सामान स्वयं उठाने का अभ्यास बनाये रखना चाहिए। मुझे तुलना के लिये स्मरण हो आता है एक प्राचार्य महोदय का एक तथाकथित संत के प्रति आक्रोश, जिनका हैंड बैग एक, तो कमंडलु दूसरा और दंड तीसरा भक्त उठाकर चलता था। रेल के प्रथम श्रेणी के डिब्बे से उतरते ही वे संत महाशय देखते थे कि कोई स्वागत के लिये और उनका सामान संभालने के लिये आया कि नहीं। एक बार तो इन प्राचार्य महोदय ने उन संत जी का हैंड बैग उन्हीं के कंधे पर रख दिया था। इनका तर्क था कि 'भगवे कपड़े पहिन लिये या प्रचारक बन गये तो क्या ? आयु में मुझ से दस वर्ष छोटे हैं, उनका बड़ा भाई मेरा शिष्य रहा है।' कठिनाई यह होती है कि सारा आत्मज्ञान और शास्त्र-विवेचन लच्छेदार शब्दों में रह जाता है, व्यवहार में मिथ्या दंभ और अहंकार पग-पग पर प्रकट होता है।

साम्य का बढ़-चढ़ कर दावा करने वाले भारत के अनेक तथाकथित मार्क्सवादी भी सुविधाओं के नीलाकाश में मुक्तविहारी राजहंस के समान 'आम आदमी' (सामान्य जन) की व्यथा और तड़पन पर करुणाभरे गीत गाकर या भावी वर्ग-हीन समाज-व्यवस्था पर भाषण झाड़कर अथवा खूनी क्रांति-समर्थक नारे गुंजाकर विश्व-शिखर के नीड़ की ओर उड़ जाते हैं पश्चिम दिशा में बसे अपने आश्रय में। संघर्षों में जूझते, अपने काले-भूरे, भारतीय धरती के लालों के सुख-दुख के साथी बनना, उनके साथ मिलकर इस भूमि को अपने श्रम-स्वेद से उर्वरा बनाने का न अवकाश है उन्हें और न इस प्रकार के एकात्म-मानववाद की सफलता का विश्वास।

कुछ लोगों ने विदेशी विचारों से प्रेरणाएं ग्रहण करके मात्र उनकी लफ्फाजी सीख ली है। घोषणाएं होती हैं 'अन्तरराष्ट्रीय एकता' या 'साम्प्रदायिक सद्भावना' अथवा 'सामाजिक समन्वय' की या फिर 'आर्थिक-सामाजिक समाजवाद' की, परन्तु हैं वे लोग, जिनके मस्तिष्कों की हर तह में भयंकर जातिवाद घुसा है, भाषाई संकीर्णता मरोड़ें ले रही है, प्रांतीय अलगाव का कैंसर उनके चिंतन पर अपना पाश जकड़ रहा है। मत-संप्रदायों के अंधेरे कूप-वृत्तों को वे धर्म के क्षीर-सागर से अधिक विशाल मान बैठे हैं। उनमें से अनेक लोगों में है अपनी 'स्टाइलिश' अंग्रेजी का गर्व, अपनी 'नफासत' का घमंड, अपनी बुद्धि की सर्वोच्चता का दम्भ, अपने ही औचित्य का गुमान, शेष सर्वसामान्य जनों के प्रति रिसती हुई घृणा, टपकता हुआ हीन-भाव, मर्मच्छेदी उपेक्षा-दृष्टि। जो इनकी पूजा न करे, जो इनके पीछे न चले, वह मूर्ख, पिछड़ा, प्रतिक्रियावादी, दुष्ट और 'दुश्मन नम्बर एक'।

यह यथार्थ है 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' का मंत्रोच्चार करने वाले देश में। 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' का स्वयं-स्फूर्त लोकतन्त्री संकल्प आज एक अधिनायकवादी प्रवृत्ति में प्रतिवर्तित हो गया है—सबको अपने रास्ते चलाओ, सबसे अपनी बात कहलवाओ, सबके मन भी अपने वश में कर डालो। आधार मुक्त ज्ञान पर आश्रित श्रद्धा का नहीं, भय, आतंक और पुरस्कार के लोभ का। शंकर ने भारत के पग-पग पर 'अद्वैत' का घोष किया, परन्तु उन्होंने भी यह दम्भ नहीं किया था कि 'शंकर भारत है और भारत शंकर है'। 'बुद्ध' ने "शरणं गच्छामि" के लिये 'संघ' या 'धम्म' का समकक्ष 'सिद्धार्थ गौतम' को नहीं माना था, प्रबुद्ध भाव के प्रतीक 'बुद्ध' को शरण्य स्वीकार किया था। गांधी जी ने 'हरिजन' नाम से अपने उपेक्षित बंधुओं को सम्मान का संबोधन देने का उपक्रम किया था, सदा-सर्वदा के लिये उन पर पृथकता की मुहर लगाकर, समग्र समाज से उनको विच्छिन्न रख कर, सामूहिक वोटों के लिये उनको लालच देकर आकर्षित करने और फिर निर्मम शोषण करने का मार्ग नहीं तलाशा था। मार्क्स ने भी 'समानता' की धुन में 'स्वतन्त्रता' और 'बन्धुत्व' को ध्वस्त करने की योजना नहीं की होगी। 'प्रोलेटेरियेट-डिक्टेटरशिप' के सर्वप्रभुता-सम्पन्न केन्द्रीय अधिनायक बनने हेतु चलने वाले लोमहर्षक षड्यंत्र तो उनकी

कल्पना में भी नहीं आये होंगे। तभी तो शायद मार्क्स ने कहा था, "भगवान को लाख-लाख धन्यवाद कि मैं मार्क्सिस्ट नहीं हूं।"

यों लोकतन्त्र की घोषणाएं हर कोई करता है। अभी-अभी हर मंच तथाकथित लोकतन्त्र के धमाकों से कांप उठा था, नारों से गगन गूंज उठा था, दीवारें रंगबिरंगे लोकतन्त्री आत्म-विज्ञापनों से भर गयी थीं। पर पूछ सकते हैं कि लोकतन्त्र की 'स्वतन्त्रता, समानता और बंधुत्व' कहाँ है, कहाँ है ? क्या लोकतन्त्र, या भारत में उसका आधार एकात्मवाद, मात्र एक खोखला नारा है—"अहं ढपोल शंखोऽस्मि, वदामि न ददामि च" ?

परन्तु नहीं, दीनदयाल जी जैसे अनेक व्यक्ति अपने जीवन से सिद्ध करते हैं कि भारत के रक्त में लोकतन्त्र है, वस्तुतः भारत में ही सच्चा लोकतन्त्र है और एकात्म मानववाद भी है। उन लोगों को छोड़ दिया जाय जो भारतीय चमड़े के भीतर अभारतीय कैंसर के कीटाणु पाल रहे हैं तो आज भी 'घट-घट में राम' या 'ना जाने किस भेष में नारायण' का सच्चे अर्थों में दर्शन करने वाले भारतीय मिल जायेंगे। यह अलग बात है कि उनकी सेवाओं का प्रचार करके उन्हें 'नोबेल पुरस्कार' देने वाली संस्थाएं कोई नहीं हैं, सहस्रों के धर्म-परिवर्तन के छद्मवेषी षड्यन्त्रों को ही 'मानव-प्रेम' के आभूषणों से अलंकृत करने वाली शक्तियाँ उनके पीछे नहीं हैं। परन्तु ऐसे अनेक संत, विद्वान, गृहस्थ और संन्यासी आज भी भारत में हैं—लगभग सभी पंथों-संप्रदायों में, सभी प्रान्तों में, सभी जातियों और वर्गों में, सभी भाषा-भाषियों में।

'एकात्म मानववाद' ही उन सबका अन्तिम गंतव्य है, उनकी जिजीविषा की अन्तिम नियति है। वस्तुतः राम की सेना की भी अन्तिम नियति वही रही है और रावण की सेना के प्रत्येक राक्षस की भी अन्तिम नियति वही। एकात्मवाद ही वह अनन्त-असीम लोक है, जहाँ पहुँच कर सभी दिशाएं मिल जाती हैं, रेखाओं के विपरीत छोर भी सम्पृक्त हो जाते हैं।

—हिन्दी विभाग, हंसराज महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

मिल जायेंगे।
का प्रचार करके
थाएं कोई नहीं
ी षड्यन्त्रों को
त करने वाली
से अनेक संत,
भारत में हैं—
न्तों में, सभी
यों में।

म गंतव्य है,
है। वस्तुत:
वही रही है
भी अन्तिम
-असीम लोक
जाती हैं,
ाते हैं।

हाविद्यालय,
ववविद्यालय

ओमप्रकाश एवं शीतलाप्रसाद

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन

(४)

भारतीय मजदूर संघ

'भारतीय मजदूर संघ' नामक एक अन्य अखिल भारतीय श्रम-संगठन की संस्थापना लोकमान्य तिलक के पावन जन्म-दिवस के अवसर पर भोपाल में २३ जुलाई, १९५५ ई० को प्रबुद्ध चिन्तक एवं मनीषी श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी द्वारा की गयी। भारतीय मजदूर संघ की आवश्यकता एवं उसके उद्देश्य पर विचार प्रकट करते हुए इस श्रमिक-संघ के संस्थापक महामन्त्री श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी ने स्पष्ट किया कि "भारतीय मजदूर संघ का निर्माण होने से पहले हमारे श्रम-संघ क्षेत्र में प्रमुख रूप से दो विचारधाराएं चल रही थीं। एक कम्युनिस्टों की है, जो श्रमिकों का पक्ष लेकर पूंजीपतियों से संघर्ष तो करते थे, किन्तु श्रमिकों के हित में तथा औद्योगिक विवादों को सुलझाने में उनकी रुचि नहीं थी। विवाद और कैसे बढ़ेंगे, गरीबी तथा बेकारी अधिक कैसे बढ़ेगी, और इसके परिणामस्वरूप पैदा होने वाले असन्तोष का अपने दलगत स्वार्थ के लिये उपयोग कैसे होगा, इधर ही उनका ध्यान था। वे जैसे पूंजीवाद के, वैसे ही राष्ट्रवाद के भी विरोध में थे। इनके हाथ में हमारे श्रमिक-आन्दोलन की बागडोर जाना देश के लिये खतरे से खाली नहीं। इनके विरोध में दूसरा प्रवाह 'इण्टक' का था। 'इण्टक' वाले देशभक्त तो हैं, किन्तु श्रमिकों का कल्याण साध्य करने में वे असफल रहे, क्योंकि इण्टक कांग्रेस के नीचे है, कांग्रेस शासन के, तथा शासन पूंजीपतियों के नीचे है। अत: 'इण्टक' पूंजीपतियों से, आवश्यकता होने पर भी, सीधा संघर्ष नहीं करना चाहता। अर्थात् देशभक्त होते हुए भी 'इण्टक' पूंजीपतियों का पृष्ठपोषक है। श्रमिकों के हित की दृष्टि से ये दोनों धाराएं अवांछनीय थीं। इसीलिये हम लोगों ने सोचा कि अब तीसरी श्रमिक-संस्था स्थापित होनी चाहिए, जो इण्टक के समान देशभक्त रहे, किन्तु उसके समान पूंजीपतियों की चेरी न बने, और, जो कम्युनिस्टों के समान, आवश्यकता होने पर पूंजीपतियों से संघर्ष भी कर सके, किन्तु उसके समान 'गैर जिम्मेदार' न हो। भारतीय मजदूर संघ ऐसी तीसरी संस्था है। सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाये तो ए० आई० टी०

यू० सी० वर्ग-संघर्षवादी है, इण्टक वर्ग-समन्वय-वादी। भारतीय मजदूर संघ वर्गवाद में ही विश्वास नहीं रखता। व्यवहार की दृष्टि से देखा जाय तो हड़ताल कम्युनिस्टों के लिये प्रथम अस्त्र है, और इण्टक उसे अस्पृश्य मानकर चलती है, भारतीय मजदूर संघ हड़ताल को अस्पृश्य भी नहीं समझता और न प्रथम अस्त्र ही। अन्य संवैधानिक मांगों को अपनाने के पश्चात्, यदि वे फलदायी न हुए तो, भारतीय मजदूर संघ हड़ताल को अन्तिम शस्त्र के रूप में अपनाता है।"

भारतीय मजदूर संघ ने भगवा ध्वज अपनाया है। उसका चिह्न मानव-अंगूठा है। उसका श्रम-दिवस विश्वकर्मा-जयन्ती का दिन है। राष्ट्रहित, औद्योगिक शान्ति, श्रमिक-समस्याओं का निराकरण एवं देशद्रोही तत्त्वों से श्रमिकों को बचाने की भूमिका लेकर भारतीय मजदूर संघ ने श्रमिक-क्षेत्र में पदार्पण किया है। भारतीय मजदूर संघ वर्गवाद में विश्वास नहीं रखता, वह आर्थिक असमानता को दूर करना चाहता है। अधिक से अधिक लोगों को काम देने की दृष्टि से कुटीर एवं लघु उद्योग को उचित संरक्षण देने की इसकी मांग है। यांत्रिकता के लिये अभिनवीकरण के नाम पर छटनी का यह विरोधी है। उत्पादन की वृद्धि का लाभ पूंजी, श्रम तथा उपभोक्ताओं में समान रूप से वितरित कराने का यह पक्षपाती है।

भारतीय मजदूर संघ ने श्रमिक-संगठन को राजनीति से अलग रखकर राष्ट्रवाद के आधार पर रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। सबको काम (आजीविका) उसका पहला नारा है, इसलिये उसने "श्रम बचाऊ यंत्र नहीं, श्रम खपाऊ योजना" की सदैव मांग रखी है। पैसे के समान पसीने का अंश (शेयर) निश्चित करने का उसका आग्रह है। भारतीय मजदूर संघ के अनुसार "राष्ट्रीयकरण नहीं, उद्योगों का श्रमिकीकरण करो, क्योंकि राष्ट्रीयकरण' में तो केवल स्वामी ही बदलते हैं, श्रमिक तो फिर भी 'गुलाम' ही रहता है"। इस सम्बन्ध में भारतीय मजदूर संघ प्रारम्भ से ही मांग करता रहा है कि 'राष्ट्र का औद्योगीकरण, उद्योगों का श्रमिकीकरण और श्रम का राष्ट्रीयकरण' किया जाय।

भारतीय मजदूर संघ का कार्य सभी प्रदेशों एवं उद्योगों में द्रुतगति से बढ़ रहा है। इस संस्था से अब तक निम्नलिखित भारतीय औद्योगिक महासंघ अपने को सम्बद्ध कर चुके हैं :—

१. अखिल भारतीय सीमेंट मजदूर संघ
२. अखिल भारतीय सुगर मिल मजदूर संघ
३. अखिल भारतीय विद्युत् मजदूर संघ
४. भारतीय इंजिनियरिंग मजदूर संघ
५. भारतीय इस्पात मजदूर संघ
६. भारतीय जूट मजदूर संघ
७. अखिल भारतीय खदान मजदूर महासंघ
८. भारतीय परिवहन मजदूर महासंघ
९. भारतीय प्रतिरक्षा मजदूर संघ
१०. भारतीय वस्त्र उद्योग कर्मचारी महासंघ
११. गवर्नमेंट एम्पलाइज नेशनल फोरम
१२. नेशनल आर्गेनाइजेशन आफ बैंक वर्कर्स
१३. नेशनल आर्गेनाइजेशन आफ इंश्योरेंश वर्कर्स
१४. अखिल भारतीय खेतिहर मजदूर महासंघ
१५. भारतीय डाक-तार कर्मचारी महासंघ
१६. गवर्नमेंट एम्पलाइज नेशनल कनफेडरेशन (स्टेट एंड सेंटर)
१७. नेशनल आर्गेनाइजेशन आफ बैंक आफिसर्स
१८. भारतीय रेलवे मजदूर संघ
१९. अखिल भारतीय स्वायत्तशासी कर्मचारी संघ
२०. अखिल भारतीय गैर शिक्षक कर्मचारी संघ
२१. पब्लिक अण्डरटेकिंग फेडरेशन
२२. फर्टिलाईजर फेडरेशन
२३. बीड़ी महासंघ

विगत वर्षों में इसकी सदस्य-संख्या में भी पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है, जैसा कि निम्न तालिका से प्रकट होता है :—

वर्ष	सम्बद्ध श्रम-संघ	सदस्य-संख्या
१९७४	१३१३	८३९,४२३
१९७७	१५५५	१०८३,४८८
१९७८	१३४४	११०२,१८३

भारतीय मजदूर संघ के प्रतिनिधियों ने राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों, सलाहकार समितियों एवं गोष्ठियों में भाग लेकर महत्वपूर्ण योगदान किया है।

देश में रेलवे कर्मचारियों के दो प्रतिद्वन्द्वी संगठन थे—पहला 'आल इण्डिया रेलवेमेन्स फेडरेशन' तथा दूसरा 'इण्डियन नेशनल रेलवे वर्कर्स फेडरेशन'। दोनों फेडरेशनों को रेलवे बोर्ड द्वारा मान्यता प्राप्त थी। श्री जयप्रकाश नारायण आल इण्डिया रेलवेमेन्स फेडरेशन के सभापति तथा श्री हरिहरनाथ शास्त्री इण्डियन नेशनल रेलवे वर्कर्स फेडरेशन के सभापति थे। रेलवे कर्मचारियों तथा दोनों फेडरेशनों के नेताओं में यह बड़ी लालसा थी कि दोनों को एक में मिलाकर रेलवे कर्मचारियों के लिये केवल एक ही संगठन बनाया जाय। प्रयास करने के बाद अन्त में दोनों फेडरेशनों के बीच समझौता हो गया और दोनों एक में मिल गये। तदनन्तर संगठन का नाम 'नेशनल फेडरेशन आफ इण्डियन रेलवेमेन' रखा गया, जिसके श्री हरिहरनाथ शास्त्री अध्यक्ष तथा श्री एस० गुरुस्वामी महामन्त्री चुने गये। दोनों फेडरेशनों के बीच यह एकता अधिक दिनों तक स्थायी न रह सकी। नेशनल फेडरेशन आफ इण्डियन रेलवेमेन की गतिविधि से असन्तुष्ट होकर आल इण्डिया रेलवेमेन्स फेडरेशन के पुराने प्रतिनिधियों ने पूना में अगस्त, १९५७ ई० में बहुत से श्रम-संघों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि रेलवे में पुनः दो फेडरेशन पूर्ववत् हो गये।

'डिफेन्स एम्पलाइज फेडरेशन' की स्थापना १९५२ ई० में श्रीमती मैत्रेयी बोस की अध्यक्षता में हुई। यह सुरक्षा-कर्मचारियों का एकमात्र संघ था। परन्तु बाद में 'फेडरेशन' के कार्यकर्ताओं में मतैक्य न होने के कारण १९५९ ई० में सुरक्षा-कर्मचारियों के एक दल ने अलग 'फेडरेशन' बना लिया।

'नेशनल फेडरेशन आफ पोस्ट ऐंड टेलिग्राफ एम्पलाइज' ने अपने विभाग के कर्मचारियों के लिये सरकार के सामने बहुत सी मांगे रखीं, जिनमें द्वितीय वेतन-आयोग नियुक्त करने की मांग, मंहगाई-वृद्धि आदि मांगें थीं। सरकार द्वारा शीघ्र कोई सन्तोषजनक हल न देखकर 'फेडरेशन' ने ८ अगस्त, १९५७ ई० से हड़ताल करने की सूचना दे दी। सरकार ने हड़ताल रोकने के लिये एक अध्यादेश लागू किया। प्रधानमन्त्री तथा लोकसभा के कुछ सदस्यों के बीच में पड़ने से डाक-तार कर्मचारियों ने हड़ताल का विचार त्याग दिया। द्वितीय वेतन-आयोग की नियुक्ति सरकार द्वारा की गयी। जुलाई, १९६० ई० में इस संगठन के हड़ताल की सूचना देने पर इसी प्रकार पुनः अध्यादेश लागू कर दिया गया था।

'आल इण्डिया पोर्ट एण्ड डौक वर्कर्स फेडरेशन' ने नवम्बर, १९५५ ई० में एक विरोध हड़ताल का आयोजन किया। यह संगठन जून, १९५४ ई० में बनाया गया था। 'फेडरेशन' ने बहुत सी मांगें सरकार के सामने रखी थीं, जिनपर काई कोर्यवाही न होते देखकर उन्हें विरोध-स्वरूप यह हड़ताल करनी पड़ी। मांगों की पूर्ति न होने के कारण 'फेडरेशन' ने तीन बार हड़ताल करने का निश्चय किया, परन्तु प्रत्येक बार सरकार द्वारा मांगों पर विचार करने का आश्वासन मिलने से हड़ताल करने का विचार त्यागना पड़ा। अन्त में कर्मचारियों को बाध्य होकर १६ जून, १९५८ ई० से हड़ताल करनी पड़ी। भारत सरकार के यातायात-मंत्री महोदय के बीच में पड़ने से हड़ताल समाप्त हुई और उन्होंने 'चौधरी रिपोर्ट' की संस्तुतियों को लागू करने का आश्वासन दिया।

१९५८ ई० में कोयले और लोहे के कारखानों में भी औद्योगिक अशान्ति रही। जमशेदपुर में कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। हड़ताल पूर्णतया असफल रही और कर्मचारियों को इससे कोई लाभ नहीं हुआ।

पत्रकारों ने भी अखिल भारतीय संगठन में संगठित होकर उपयुक्त वेतन-निर्धारण की मांग की, सरकार ने एक वेतन-मंडल बैठाया, जिसने पत्र-कर्मचारियों के सम्बन्ध में अपनी संस्तुतियाँ दीं। इन संस्तुतियों को सभी पत्रों द्वारा कार्यान्वित करना एक विकट समस्या

सिद्ध हुई, फलस्वरूप बहुत से पत्रों का प्रकाशन बन्द भी हो गया।

द्वितीय वेतन-आयोग ने, जिसने अक्टूबर, १९५७ से कार्य प्रारम्भ किया था, केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के पक्ष में अनेक संस्तुतियाँ की थीं, जिनमें सर्वप्रथम तो जुलाई, १९५७ से ही श्रमिकों के मंहगाई भत्ते में वृद्धि करने की संस्तुति थी। श्रमिकों के लिये न्यूनतम वेतन-निर्धारण का प्रश्न एक अलग समस्या थी। १५ वें भारतीय श्रम-सम्मेलन में भी इस समस्या पर विचार किया गया था और न्यूनतम वेतन-निर्धारण के लिये कुछ सिद्धान्त स्वीकार किये गये थे। इन सिद्धांतों के अनुसार श्रमिकों को कम से कम इतना वेतन मिले कि वह ३ व्यक्तियों के एक परिवार को डा० आक्रायड द्वारा निर्धारित आवश्यक कैलोरी युक्त भोजन प्रदान कर सके तथा ४ सदस्यों के परिवार के लिये १८ गज प्रति सदस्य प्रतिवर्ष वस्त्र की व्यवस्था कर सके।

अभिनवीकरण के सम्बन्ध में भी यह स्वीकार किया गया कि कर्मचारियों की छटनी किये बिना इसे लागू किया जाय। कार्य की स्थिति में सुधार करते हुए लाभ का समुचित बंटवारा सेवायोजक, कर्मचारी तथा उपभोक्ता वर्ग में किया जाय तथा श्रमिको का कार्य-भार विशेषज्ञों द्वारा निर्धारित किया जाय। सेवायोजकों तथा श्रम-सगठनों के ठीक ढग से कार्य करने के लिये एक अनुशासन-संहिता भी बनायी गयी, जिसमें बहुत से सिद्धांत निर्धारित किये गये। श्रम-संघों की मान्यता के सम्बन्ध में भी निम्नलिखित सिद्धान्त स्वीकार किये गये :—

१. जहाँ एक से अधिक श्रम-संघ हों, वहाँ उस श्रम-संघ को मान्यता मिलनी चाहिए जो कम से कम एक वर्ष से कार्य कर रहा हो। जहाँ केवल एक ही श्रम-संघ हो, वहाँ यह नियम लागू न किया जाय।

२. सम्बन्धित कारखाने या सस्थान में श्रम-संघ के सदस्यों की संख्या सब कर्मचारियों की कम से कम १५ प्रतिशत हो।

३. यदि किसी श्रम-संघ के सदस्यों की संख्या किसी उद्योग या क्षेत्र में सब कर्मचारियों की कम से कम २५ प्रतिशत हो तो उसे प्रतिनिधि श्रम-संघ के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए।

४. श्रम-संघ को मान्यता मिलने पर उसकी स्थिति में दो वर्ष तक कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

५. जिस संस्थान या उद्योग में बहुत से श्रम-संघ हों, वहाँ उस श्रम-संघ को मान्यता मिलनी चाहिए, जिसमें सबसे अधिक सदस्य हों।

६. केवल उन्हीं श्रम-संघों को मान्यता दी जाय, जो अनुशासन-संहिता का पालन करें।

श्रम-संघों की सदस्य-संख्या की परीक्षा करने की भी एक प्रणाली अपनायी गयी। भारतीय श्रम-सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिये तथा इस सम्बन्ध में आपत्तियों की जाँच करने के लिये केन्द्रीय श्रम-मत्रालय के अन्तर्गत एक 'कार्यान्वयन एवं मूल्यांकन समिति' बनायी गयी। तदनन्तर इसी आधार पर विभिन्न राज्यों मे श्रम-मंत्रालय के अन्तर्गत इस प्रकार की समितियाँ बनायी गयीं।

उद्योग में कर्मचारियों की भागीदारी भी एक प्रगतिपूर्ण पग है, जिसके अन्तर्गत श्रमिकों को उद्योग में एक सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त होगा, साथ ही उत्पादन-वृद्धि में भी उनका सहयोग मिलता रहेगा।

इस योजना से गांधी जी के १९१८ ई० के स्वप्न को साकार होने का अवसर मिलेगा, जिसमें उन्होंने अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया था : "मालिकों के साथ मजदूरों का सम्बन्ध भागीदार के समान होना चाहिए। उचित तो यही है कि बाप-बेटे के बीच जो सम्बन्ध होता है, मालिक और मजदूर के बीच भी वैसा सम्बन्ध रहे। जिस तरह बेटा बाप के अनुभव और ज्ञान से लाभ उठाता है, वही बात मजदूरों के लिये भी होनी चाहिए। मैं ऐसी स्थिति पैदा करने की कोशिश कर रहा हूं जिसमें मालिक मजदूरों का शोषण न करें और मजदूर मालिक को

धोखा न दें।"

केन्द्रीय श्रम-संगठनों को उद्योगों में भागीदारी प्रथा सफलतापूर्वक लागू कराने के लिये अभी महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। बहुत से उद्योगों में श्रम-संघों के सहयोग की आवश्यकता अनुभव की गयी है और उनसे महत्वपूर्ण विषयों पर समझौता कर लिया गया है।

२१ मई, १९५८ ई० को नैनीताल में हुए भारतीय श्रम-सम्मेलन में चारों केन्द्रीय संगठनों—इण्टक, एटक, एच० एम० एस० और यू० टी० यू० सी०—के प्रतिनिधियों ने परस्पर सद्भावपूर्ण व्यवहार रखने के लिये एक आचार-संहिता स्वीकार की, जिसमें ये सिद्धान्त स्वीकार किये गये :—

१. किसी उद्योग अथवा संस्थान में प्रत्येक कर्मचारी को यह स्वतन्त्रता हो कि वह स्वेच्छानुसार श्रम-संघ का सदस्य बने। इस सम्बन्ध में कोई दबाव न डाला जाय।

२. श्रम-संघ की प्रजातांत्रिक प्रणाली को स्वीकार किया जाय।

३. कोई भी कर्मचारी दो श्रम-संघों का सदस्य न बने।

४. श्रम-संघ के पदाधिकारियों एवं कार्यकारिणी का प्रजातांत्रिक पद्धति से चुनाव किया जाय।

५. कर्मचारियों की अज्ञानता से किसी श्रम-संघ को लाभ नहीं उठाना चाहिए और न अधिक बढ़ाकर मांगें करनी चाहिए।

६. जातीयता, प्रान्तीयता तथा साम्प्रदायिकता का सभी श्रम-संघों द्वारा अन्त किया जाय।

७. श्रम-संघों के पारस्परिक व्यवहार में हिंसा, दबाव या धमकी का प्रयोग न किया जाय।

८. सभी केन्द्रीय संगठन 'कम्पनी यूनियन' के निर्माण या संचालन का विरोध करें।

द्वितीय वेतन-आयोग का प्रतिवेदन (रिपोर्ट) दिसम्बर, १९५९ ई० में प्रकाशित हुआ। सरकारी कर्मचारी चाहते थे कि सरकार वेतन-आयोग के प्रतिवेदन में कर्मचारियों की सुविधाओं के लिये कुछ परिवर्तन करके उसे लागू करे। परन्तु प्रतिवेदन के बाहर कुछ भी विचार करने के लिये सरकार तैयार नहीं थी। पारस्परिक वार्ता एवं विचार-विनिमय द्वारा समस्या का कोई हल नहीं निकल सका। फलतः सरकारी कर्मचारियों ने हड़ताल करने का निश्चय किया। सरकार ने हड़ताल को असफल करने के लिये 'एसेन्शल सर्विसेज मैण्टेनेन्स आर्डिनेन्स' १९६० ई० में पारित किया, जिसके अनुसार रेलवे, डाक-तार आदि आवश्यक विभागों में हड़ताल करना या हड़ताल करने के लिये प्रोत्साहित करना अपराध माना गया। फिर भी ११ जुलाई की अर्धरात्रि से सरकारी कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। हड़ताल पांच दिन तक चली और अन्त में असफल रही।

१९५८ के पश्चात् श्रमिक-संघों के लिये एक नयी भूमिका का आरम्भ हुआ है। भारतीय श्रम-सम्मेलन (इण्डियन लेबर कान्फ्रेंस) के १५ वें अधिवेशन में रखे गये प्रस्ताव की स्वीकृति के परिणामस्वरूप भारतीय श्रम-संघ-आन्दोलन के इतिहास में संकल्पवाद का प्रारम्भ हुआ। श्रमिक-संघों के कार्य श्रमिकों के लिये वित्तीय लाभ जुटाने तथा विवाद मिटाने तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्हें औद्योगिक सम्बन्धों को नया मोड़ देने, औद्योगिक प्रबन्ध में सहयोग करने तथा संघों के आपसी झगड़ों को नियमित करने के दायित्व सौंपे गये। उनसे श्रमिकों के कल्याण और उद्योगों का ध्यान रखने के साथ-साथ राष्ट्र की आर्थिक स्थिति और सामाजिक न्याय की व्यवस्था का दायित्व सम्भालने की भी आशा की गयी।

अन्तरसंघीय व्यवहार-संहिता, जो उसी समय चार मुख्य केन्द्रीय संगठनों द्वारा स्वीकार की गयी तथा औद्योगिक समझौता प्रस्ताव (जो १९६२, नवम्बर में भारत पर चीन के आक्रमण के समय स्वीकार किया

गया) संकल्पवाद की भावनाओं को बनाये रखने में बहुत योगदान किया। लगभग दस वर्ष तक श्रम-संघ-आन्दोलन किसी तीव्र पारस्परिक अलगाव से बचा रहा।

दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि बैंक उद्योग तथा कुछ सार्वजनिक संस्थानों को छोड़कर शेष समस्त श्रम-संघ-आन्दोलन आर्थिक उपलब्धि से अछूता ही रहा। विशेषतः बोनस अधिनियम १९६५ के बनने के बाद सामान्य श्रमिक में एक निराशा की भावना घर करने लगी। इस स्थिति से कई श्रम-संघ-नेता भी हतोत्साह हो गये। इन सबका परिणाम यह हुआ कि एक बार फिर अलग होने तथा नये संगठन बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी। कुछ नये केन्द्रीय संगठन जो बाद में स्थापित किये गये, वे इस प्रकार हैं :—

१. हिन्द मजदूर पंचायत :—संयुक्त समाजवादी दल द्वारा यह संगठन १९६५ में बनाया गया, जो हिन्द मजदूर सभा से अलग हट कर कार्य करने लगा। यह सभी राज्यों में लोकप्रिय नहीं हो सका। हिन्द मजदूर सभा और हिन्द मजदूर पंचायत ने फरवरी, १९७९ ई० में बम्बई अधिवेशन में पुनः विलीनीकरण कर लिया है।

२. सेण्टर आफ इण्डियन ट्रेड यूनियन्स (सिटू) :—ए० आई० टी० यू० सी० में आपसी मतभेद होने के कारण १९६९ में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने एक अलग केन्द्रीय संगठन स्थापित किया। इस संगठन के बनते ही इसकी महत्वपूर्ण भूमिका ने बहुत से केन्द्रीय संगठनों (जिनमें ए० आई० टी० यू० सी० सम्मिलित है) के सदस्यों को अपनी ओर खींच लिया। श्रम-संघ-आन्दोलन में इस समय यह एक शक्तिशाली केन्द्रीय संगठन माना जाता है।

३. यू० टी० यू० सी० (लेनिन सरणी) :—यू० टी० यू० सी० में फूट के कारण लेनिन-विचारधारा के अनुयायियों ने एक नये संगठन की स्थापना १९६९ में की तथा उसका नाम यू० टी० यू० सी० (लेनिन सरणी) रखा। इस संगठन की गतिविधियाँ अधिकतर पश्चिमी बंगाल में ही सीमित हैं।

४. नेशनल लेबर आर्गनाइजेशन:—इस संगठन की स्थापना गुजरात प्रदेश में १९७१ में की गयी तथा इसकी गतिविधियाँ भी अधिकतर उसी प्रदेश तक सीमित हैं।

राष्ट्रीय श्रम-आयोग

भारत-सरकार ने भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री पी० बी० गजेन्द्रगडकर की अध्यक्षता में राष्ट्रीय श्रम-आयोग की १९६६ में नियुक्ति की। केन्द्रीय श्रम-मंत्रालय के श्री बी० एन० दातार आयोग के सदस्य मंत्री थे।

राष्ट्रीय श्रम-आयोग (१९६९) ने श्रमिक-संगठनों के प्रति भारत-सरकार को जो संस्तुतियाँ की हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं : आयोग के अनुसार श्रमिकों को ही श्रमिक-संघों के मूल उद्देश्य स्वयं अपने अनुभव और आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित करने चाहिए। इन संगठनों को सदस्यों के आदेशानुसार कार्य करना होगा तथा देश की वैधानिक स्थिति को भी ध्यान में रखना होगा। संघों को अपने सदस्यों के हितों की रक्षा करते हुए, साथ-साथ सामाजिक दायित्व भी निभाने होंगे।

आयोग ने जहाँ शिल्पी/व्यवसाय-संघों की स्थापना को ठीक नहीं समझा, वहाँ केन्द्रीय/औद्योगिक तथा राष्ट्रीय फेडरेशन बनाने के कार्य को प्रोत्साहन देने की संस्तुति की। आयोग के अनुसार बाहरी नेताओं की संख्या कम करनी चाहिए तथा उद्योग के अन्दर से नेताओं को प्रोत्साहित करना चाहिए और उन्हें उत्तरदायित्व सौंपना चाहिए।

आयोग के अनुसार श्रम-संघों की मान्यता का प्रश्न केन्द्रीय संगठनों पर छोड़ देना चाहिए और श्रम-न्यायालय (लेबर कोर्ट) को तभी हस्तक्षेप करना चाहिए, जब वे असफल रहें। श्रम-संघों के पंजीयन के प्रति आयोग के विचारानुसार सभी कारखानों और

उद्योगों के स्तर पर संघों का पंजीयन अनिवार्य होना चाहिए, परन्तु केन्द्रीय संगठनों को इसके लिए बाध्य न किया जाय। पंजीयन के लिये न्यूनतम संख्या १० प्रतिशत नियमित कर्मचारी अथवा १००, इन दोनों में से जो कम हो, की संस्तुति की गयी और संघ का चन्दा भी २५ पैसे से बढ़ाकर एक रुपया करने का परामर्श दिया गया।

संघों द्वारा एकता की ओर कुछ प्रयत्न

इण्टक-एच० एम० एस० परामर्श-समिति

मई, १९७१ में इण्टक और एच० एम० एस० ने मिलकर एक संयुक्त परामर्श-समिति की नियुक्ति की। इस समिति का उद्देश्य यह था कि ऐसी सम्भावनाओं पर विचार करे, जिससे दोनों संगठन कुछ सामान्य विषयों पर श्रमिक वर्ग के हितों के लिये संयुक्त मत दे सकें तथा राष्ट्रीय और आर्थिक नीतियों पर विचार प्रकट कर सकें। परन्तु यह परामर्श-समिति प्रभावशाली ढंग से कार्य नहीं कर सकी और इसकी बैठकें बहुत कम हुईं।

राजनीतिक तथा अन्य विषयों पर विचारधारा में समता होने के कारण दोनों संगठनों के विलय की बात भी कुछ समय बाद बल पकड़ गयी। १९७३ में इसी उद्देश्य से एक १२ सदस्यों की संयुक्त समिति का गठन किया गया। इस समिति से दोनों संगठनों के विलय की सम्भावनाओं पर विचार करने की आशा की गयी। परन्तु कई समस्याओं के कारण विलय नहीं हो सका।

श्रमिक-संघों की राष्ट्रीय परिषद्

भारतीय श्रम-सम्मेलन की स्थायी श्रम-समिति की जुलाई, १९७० की बैठक में यह स्पष्ट हुआ कि कुछ मामलों में तीनों केन्द्रीय संगठनों—इण्टक, एच० एम० एस०, एटक—में सामंजस्य नहीं है। ये मामले थे—हड़ताल का अधिकार, सरकार द्वारा औद्योगिक विवादों में हस्तक्षेप तथा औद्योगिक सम्बन्ध-आयोग की नियुक्ति। भारत-सरकार ने इन संगठनों के प्रतिनिधियों में अनौपचारिक बातचीत का सुझाव दिया। इसके परिणामस्वरूप कई बैठकों का आयोजन किया गया तथा ऐसी ही एक बैठक में राष्ट्रीय परिषद् बनाने का विचार रखा गया। २१ मई, १९७२ में परिषद् बनी। परन्तु बनते ही प्रतिनिधियों के प्रश्न पर मतभेद पैदा हो गया। फिर भी, बिना संविधान और निर्धारित प्रतिनिधियों के, इस परिषद् की कई अनौपचारिक बैठकें बुलायी गयीं तथा कई महत्वपूर्ण विषयों, जैसे—बोनस आदि, पर विचार-विमर्श हुआ। परन्तु इस राष्ट्रीय परिषद् को कुशलता और सुदृढ़ता प्रदान कर सकने वाले भावनात्मक परिवर्तन के अभाव के कारण यह प्रयत्न भी विफल हो गया, यद्यपि यह अवश्य ही समझा जाने लगा कि ऐसी परिषदें श्रमिक वर्ग के हितों के लिये आवश्यक हैं।

श्रमिक-संघों की संयुक्त परिषद्

श्रमिक-संघों की राष्ट्रीय परिषद् के सामने कुछ नये केन्द्रीय संगठनों ने एक और संस्था १९७२ में बना ली, जिसका नाम श्रमिक-संघों की संयुक्त परिषद् रखा गया। इस केन्द्रीय संगठन में जो सम्मिलित हुए, उनके नाम हैं—सीटू, यू० टी० यू० सी० और एच० एम० पी०। इस संस्था ने भी श्रम-संघ-एकता अथवा श्रमिक वर्ग के हितों के लिये कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया तथा इसकी अब कोई विशेष गतिविधियाँ दृष्टिगोचर नहीं हैं।

तृतीय वेतन-आयोग

केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के भरसक प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत-सरकार ने १९७० में तीसरे वेतन-आयोग की नियुक्ति की। आयोग का प्रतिवेदन (रिपोर्ट) २ अप्रेल, १९७३ को संसद में प्रस्तुत किया गया। चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों के लिये प्रारम्भिक मूल वेतन के रूप में १८५ रुपये प्रतिमास की संस्तुति की गयी। समिति की इस संस्तुति से कर्मचारी सन्तुष्ट न हो सके और श्रमिक वर्ग ने इसके विरोध में आन्दोलन किया। सरकार ने चतुर्थ श्रेणी के

कर्मचारियों की इस मांग को मान लिया तथा न्यूनतम मूल वेतन १८५ से बढ़ाकर १९६ रुपये कर दिया।

राष्ट्रीय शिखर-संस्था (National Apex Body)

१९७५ में भारत-सरकार ने एक राष्ट्रीय शिखर-संस्था बनायी, जिसके माध्यम से उद्योग और श्रमिकों के प्रतिनिधि मिलकर उद्योग की समस्याओं पर विचार कर सकें, देश में औद्योगिक सम्बन्धों की स्थिति की समीक्षा कर सकें और आवश्यकतानुसार स्थिति को सुधारने के सुझाव दे सकें। इसमें कुल २१ सदस्य थे। यद्यपि यह संस्था द्वि-पक्षीय कही गयी, किन्तु इसकी सभी बैठकों में श्रम-मन्त्री उपस्थित रहे और कुछ मंत्रालयों के प्रतिनिधि भी उपस्थिति रहते थे।

भारत में श्रम-संघ-आन्दोलन के हमारे इस विचार-विमर्श के परिणामों तक पहुंचने के लिये हमें उपर्युक्त लेख में कुछ संक्षेप में प्रस्तुत किये गये तथ्यों को आधार बनाना होगा। सबसे पहला विचार, जो मन में घर कर गया है, यह है कि संघों की कथित अनेकता अब एक मूल तथ्य है और श्रम-संघ-आन्दोलन का किसी एक केन्द्रीय श्रमिक-संघ द्वारा एकीकरण करना तथा निर्देश देना असम्भव प्रतीत होता है। हमने देखा है कि संघों का विभाजन विचार-धाराओं में मतभेद के कारण है। अभी तक एकता के जितने भी प्रयत्न किये गये, वे मूल विचारधाराओं के कारण ही विफल हुए, ऐसा कहा गया है। सर्वोत्तम मार्ग यह होगा कि इस कटु सत्य को स्वीकार किया जाय और प्रयत्न किये जायें कि केन्द्रीय श्रमिक-संगठनों को अपनी विचारधारा के प्रति अपने सम्बन्धित संघों, श्रमिकों तथा सामान्य जनता को स्पष्टीकरण देना चाहिए ताकि अस्पष्ट विचारधाराओं को सदा के लिये समाप्त किया जा सके। इसके अतिरिक्त यदि एक बार कार्यविधि और विचारधारा से सम्बन्धित विषयों पर स्पष्टीकरण प्राप्त कर लेते हैं तो सबसे स्वीकृति-प्राप्त सामान्य उद्देश्यों पर कार्य करने के लिये सहयोग और एकरूपता की सम्भावना बढ़ जायेगी। इन सामान्य उद्देश्यों की संख्या भी पर्याप्त होगी, क्योंकि सभी संघ इस बात का दावा करते हैं कि वे श्रमिक वर्ग के हितों के लिये ही कार्य कर रहे हैं। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये निचले स्तर पर एकीकरण-समितियां तथा राष्ट्रीय स्तर पर अन्तरसंघीय शिखर-संस्था का गठन किया जा सकता है, जबकि सभी संगठन अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते रहें।

संघ के आन्तरिक विवाद भी श्रम-संघ-आंदोलन के लिये कम हानिकारक नहीं। सच तो यह है कि अन्दर के इन गुटों के कारण ही नये अथवा विरोधी संघ किसी विचारधारा का सहारा लेकर बनते हैं। चाहे ये झगड़े राजनीति के कारण अथवा व्यक्तिगत कारणों से हैं, फिर भी इनके निवारण के लिये संघ के अन्दर कोई पंच-निर्णय-प्रणाली अथवा कोई प्रभावशाली आंतरिक शिकायत निवारण पद्धति अपनाकर समस्या का हल ढूंढा जा सकता है। विधिक (कानूनी) झगड़ों एवं एक दूसरे पर कीचड़ उछालने के उपायों का प्रबल विरोध करना चाहिए, क्योंकि इनसे श्रम-संघ की वास्तविक कार्यविधि में रुकावट पड़ती है।

यह उपयुक्त समय है कि श्रम-संघ केवल रोटी-कपड़े के आंदोलन से ऊपर उठ सकें। स्पष्ट है कि उन्हें अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार करना चाहिए ताकि अभी तक जिन विषयों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है, उन्हें भी अपने उद्देश्यों में सम्मिलित कर सकें। उदाहरणार्थ—असमानता को, चाहे वह वेतन में हो, विधान लागू करने में हो, प्रतिनिधित्व में हो, समाप्त कराना विचारणीय है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आर्थिक तथा कल्याणकारी योजनाओं को श्रमिकों के हितार्थ लागू करने जैसा सामाजिक उत्तरदायित्व संघों को अपने ऊपर लेना चाहिए ताकि श्रमिकों को आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन से होने वाले कष्टों से बचाया जा सके। ऐसा करने से उनका राष्ट्रीय, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीति-सम्बन्धी नीतियों के निर्धारण में हाथ होगा और इस प्रकार श्रम-संघ-आन्दोलन का एक नया अध्याय आरम्भ होगा।

आज जब हमारे देश में सर्वत्र निर्माण के कार्य हो रहे

हैं और औद्योगिक क्षेत्र में स्थायी शान्ति बनाये रखने के लिये औद्योगिक प्रजातन्त्र की ओर हम बढ़ रहे हैं, श्रम-संघों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ पड़ा है। आज श्रम-संघों को अपने सदस्यों को इस योग्य बनाने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिए कि वे आगे आने वाले उत्तरदायित्व को वहन कर सकें। किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश का श्रमिक-आन्दोलन दलबन्दी के संकुचित घेरे में घिर गया है। आज हर ओर से यह आवाज उठने लगी है कि यदि श्रमिक-आन्दोलन को राजनीतिक स्वार्थों से पृथक न किया गया तो यह श्रम-जगत और उसकी एकता के लिये बड़ी ही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति होगी। श्रमिक-आन्दोलन का जो पौधा विदेशी साम्राज्यवाद के दमनरूपी ताप में अंकुरित एवं पल्लवित हुआ, वह स्वतन्त्रतारूपी वसन्त बहार में पुष्पित दिखायी नहीं दे रहा है। इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है कि यदि भारतीय श्रमिक-आन्दोलन को सही दिशा में संचालित करने का अथक प्रयत्न किया जाय तो देश में एक ऐसा ठोस, सुदृढ़, शक्तिशाली श्रमिक-आन्दोलन बनेगा, जो श्रमिक की केवल दैनिक समस्याओं का समाधान ही नहीं प्रस्तुत करेगा, वरन् उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने में भी पूर्ण समर्थ होगा।

शिव संकल्प

ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ यजुर्वेद ३४/१ ॥

दिव्य, देह-अधिपति, अति गतिमय,
यत्र तत्र सर्वत्र विचरता ।
जगते-सोते दूर-दूर तक,
आशातीत उड़ानें भरता ॥
ज्योति-ज्योति का प्रखर प्रकाशक,
एक अकेला इन्द्रियजित जो ।
वह मेरा मन, हे जगवन्दन !
शिव संकल्पों से प्रेरित हो ॥१॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ यजुर्वेद ३४/२ ॥

जिसके बल पर कर्मवीर वर,
धीर धुरन्धर मेधावी नर ।
यज्ञशील बनकर निशि-वासर
करते हैं संघर्ष निरन्तर ॥
जीव-जगत का अन्तश्चेतन
अति अद्भुत, बल-तेज सहित जो ।
वह मेरा मन, हे जगवन्दन !
शिव संकल्पों से प्रेरित हो ॥२॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ यजुर्वेद ३४/३ ॥

ज्ञान-ध्यान-प्रज्ञान-प्रचेतक,
अमर जागरण-ज्योति प्रदाता ।
सकल इन्द्रियों का सेनापति,
संकट में जो धीर बँधाता ॥
जिसके बिना नहीं हो सकती
कर्म-साधना किंचित् भी तो ।
वह मेरा मन, हे जगवन्दन !
शिव संकल्पों से प्रेरित हो ॥३॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ यजुर्वेद ३४/४ ॥

भूत-भविष्यत्-वर्तमान का
जो सब ज्ञान ग्रहण करता है ।
अमर तत्त्व जो जन्म-जन्म में
अंग संग झर झर झरता है ॥
सप्त साधनों से नित सज्जित
ज्ञान-यज्ञ करता विस्तृत जो ।
वह मेरा मन, हे जगवन्दन !
शिव संकल्पों से प्रेरित हो ॥४॥

यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ यजुर्वेद ३४/५ ॥

ऋक्-अथर्व-यजु-सामवेद-स्वर,
जिसमें सभी प्रतिष्ठित ऐसे ।
जुड़े हुए रथ-चक्र-केन्द्र में,
चहों ओर आरे हों जैसे ॥
प्रजामात्र के सर्वज्ञान से
ओत-प्रोत अति गठित ग्रथित जो ।
वह मेरा मन, हे जगवन्दन !
शिव संकल्पों से प्रेरित हो ॥५॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽ इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ यजुर्वेद ३४/६ ॥

द्रुतगामी अश्वों को वश में
कर लेता है ज्यों सुसारथी ।
त्यों ही प्रति इन्द्रिय-मतंग पर
अंकुश रखता मन महारथी ॥
उर-प्रतिष्ठ, अत्युग्र, क्रान्तिकर,
सरस, नवल नित, जरा-रहित जो।
वह मेरा मन, हे जगवन्दन !
शिव संकल्पों से प्रेरित हो ॥६॥

—रूपान्तरकार : **सत्यपाल 'बेदार' सरस**
(हिन्दी विभाग, श्यामलाल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय)

डा० पद्मनाभ शर्मा

शुक्र-नीति* में मंत्रिमंडलीय व्यवस्था

मंत्रि-परिषद् को शासन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग माना गया है। आज के संसदीय प्रजातंत्र में ही नहीं, यह परम्परा भारत के प्राचीन ग्रन्थों में भी व्यापक रूप में पायी जाती है। प्राचीन भारत में राजा का प्रशासन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है, किन्तु भारतीय विचारकों ने शासन के सुव्यवस्थित संचालन के लिये कुछ महत्वपूर्ण नीतियाँ प्रतिपादित कीं, जिनका उद्देश्य राजा की शक्तियों पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगाना रहा और इसीलिये प्राचीन भारत में मंत्रिमण्डलीय व्यवस्था की अनिवार्यता पर विशेष बल दिया गया। इसी भांति आचार्य शुक्र ने भी शासन के सुव्यवस्थित संचालन के लिये विभिन्न नीतियाँ प्रतिपादित कीं। उनका मत था कि छोटे से छोटे कार्य को करने में भी जब व्यक्ति बिना सहायकों के सरलता से सफलता प्राप्त नहीं कर पाता,[१] तब शासन-संचालन जैसे महत्वपूर्ण एवं दुष्कर कार्य को अकेला व्यक्ति कैसे सम्पादित कर सकता है? इसी-लिये उन्होंने राजा के लिये यह अनिवार्य बना दिया कि वह (राजा) राजकार्य का सम्पादन अपने मन्त्रियों एवं अन्य सहायकों की सहायता से ही करे।[२] चूँकि प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धि-वैभव भिन्न-भिन्न होता है, अतएव राज्य की उन्नति के लिये राजा अनि-वार्यतः मंत्रि-मण्डल की व्यवस्था करे।[३] शुक्रनीतिकार-ने मात्र मंत्रि-मण्डल की अनिवार्यता ही स्वीकार नहीं की, अपितु श्रेष्ठ शासन के लिये मंत्रि-मण्डलीय व्यवस्था का वैज्ञानिक वर्णन भी प्रस्तुत किया है।

मंत्रि-परिषद् का संगठन :

शासन का व्यवस्थित एवं नियमित संचालन सामान्यतः मंत्रियों की योग्यता एवं कुशलता पर ही आधारित होता है। कुत्सित सहायकों से युक्त राजा अपने धर्म तथा राज्य से च्युत हो जाता है। अतः राजा को श्रेष्ठ व्यक्तियों को सहायक के रूप में नियुक्त करना चाहिए।[४]

आचार्य शुक्र ने युवराज एवं अमात्य-वर्ग को राजा के दाहिने तथा बांये नेत्र और कान माना है,[५] अतः राजा को योग्य व्यक्तियों को ही युवराज एवं अमात्य आदि नियुक्त करना चाहिए।[६] यदि मंत्रियों[७] की

विवेकपूर्वक व सावधानी से नियुक्ति न की गयी तो घोर अनर्थ हो सकता है।

(अ) योग्यताएँ :

रामायण, मनुस्मृति और अर्थशास्त्र में अभिजात व्यक्ति को मंत्रि-पद प्रदान करने का समर्थन किया गया है। इसी वैचारिक परम्परा में शुक्रनीतिकार ने भी मंत्रियों के उच्चकुलोत्पन्न होने का समर्थन किया है।[८] इतना ही नहीं, शुक्रनीति के अनुसार मंत्रि-परिषद् के पदों पर राजा को ब्राह्मणों की नियुक्ति करनी चाहिए। ब्राह्मणों के अभाव में क्षत्रिय और क्षत्रियों के न मिलने पर वैश्यों की नियुक्ति की जा सकती है, किन्तु शूद्र की उक्त पदों पर नियुक्ति नहीं करनी चाहिए।[९] परन्तु शुक्रनीति में ही एक अन्य स्थान पर यह भी कहा गया है कि वर्ण की उच्चता का विचार राजनीति में न करके विवाह एवं भोजन के समय करना चाहिए।[१०] इन मतों से यह प्रकट होता है कि आचार्य शुक्र वर्ण की उच्चता की अनिवार्यता के कट्टर समर्थक नहीं थे। सम्भव है कि उच्च वर्ण का विचार प्राचीन समय में अधिकांशतः ब्राह्मणों के सुशिक्षित होने के कारण दिया गया है।

ब्राह्मणों के अभाव में अन्य व्यक्तियों की नियुक्ति के विचार से यह स्पष्ट है कि यदि शिक्षित एवं बुद्धिमान ब्राह्मण न मिलें तो अन्य वर्ण के शिक्षित एवं बुद्धिमान व्यक्तियों को नियुक्त किया जा सकता है। यहाँ ऐसी सम्भावना प्रतीत नहीं होती कि उस समाज में ब्राह्मणादि वर्णों के व्यक्तियों का अभाव हो। वस्तुतः इन वर्णों के व्यक्ति तो समाज में अवश्य होंगे, अभाव इनमें बुद्धि-वैभव एवं योग्य शिक्षित होने का ही सम्भव जान पड़ता है। शूद्र की नियुक्ति के निषेध के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि चूंकि उस समाज में शूद्रों का कार्य विद्याध्ययन नहीं था, अतएव बुद्धि-वैभव-सम्पन्न, योग्य, शिक्षित शूद्र न मिलने के कारण इसका निषेध करना पड़ा। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि राजनीति में वर्ण की उच्चता का विचार नहीं करना चाहिए। वस्तुतः इसी उद्देश्य से इस विचार को उन्होंने विवाह और भोजन तक सीमित रखा। इस प्रकार आचार्य शुक्र का मंत्रिमण्डल के सभी पदों पर केवल योग्य व्यक्तियों को ही नियुक्त करने का विचार आज की आरक्षण-नीति द्वारा अयोग्य व्यक्तियों के प्रशासन में स्थान पाने की सम्भावना के परिप्रेक्ष्य में विचारणीय है।

शुक्र-नीति में आयु-सम्बन्धी योग्यता का उद्देश्य मंत्रि-परिषद् के सदस्यों को उनके पद की गरिमा और प्रतिष्ठा के अनुकूल ही गम्भीर तथा अनुभवी बनाना है। चूंकि आचार्य शुक्र इस तथ्य से परिचित थे कि अनुभवहीन मन्त्री अपने महान कर्तव्यपालन में असमर्थ एवं असफल रहते हैं और उनके द्वारा शासनरूपी यन्त्र के भी नष्ट होने की पूर्ण सम्भावना बनी रहती है,[११] अतः मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों का अनुभवी व परिपक्व होना आवश्यक बताया है।[१२]

इंग्लैण्ड में भी मन्त्रियों के अनुभवी होने की महत्ता प्रतिपादित की गयी, किन्तु महत्ता के उद्देश्य गम्भीरता से ग्रहण नहीं किये गये, फलतः नियम प्रतिपादित करने वालों ने ही उनका अनुसरण नहीं किया। आश्चर्य तो यह है कि इंग्लैण्ड में इस नियम को पर्याप्त महत्वपूर्ण मानते हुए भी इसकी व्यावहारिकता में संदेह व्यक्त करके इसे नकार दिया गया। अनुभव-हीन मंत्रियों से देश व प्रशासन को भारी उलझनों का सामना करना पड़ा, यह तथ्य निर्विवाद है। किन्तु व्यावहारिक कठिनाइयों के निवारण की दिशा में अन्वेषण तो क्या, गम्भीर चिन्तन का क्रम भी प्रारम्भ नहीं हुआ।

शुक्र-नीति में मन्त्रि-परिषद् की सदस्यता के लिये किसी भी व्यक्ति का उत्तम आचरणयुक्त होना अनिवार्य है। मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को गुणवान, शूरवीर, प्रियवादी, हितोपदेशक, क्लेश सहन करने में तत्पर, धर्मात्मा, पवित्रता एवं बुद्धिमत्ता आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।[१३] इस प्रकार की श्रेष्ठ योग्यताओं से सम्पन्न व्यक्ति ही मन्त्रि-परिषद् के सदस्य के रूप में, कुमार्गगामी राजा को भी सन्मार्ग पर लाने में सक्षम व सफल हो सकते हैं।[१४] जिन मन्त्रियों से राजा को भय नहीं होता, उनसे राज्य की उन्नति सम्भव नहीं होती। अतएव मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों के उच्च आचरण की छाप राजा के हृदय में अंकित होना

आवश्यक है।
कि मन्त्रि-परि
शासन के श्रे
सहायक ही न
की दुर्व्यवस्था
त्रिक पतन हो
सम्बन्ध में वि

शुक्र-नीतिका
होना भी अ
नीतिशास्त्र
अनुरूप का
प्रतिष्ठा एवं
शैक्षिक योग्य

आचार्य शुक्र
पर प्रतिष्ठित
मंत्रानुसार
ज्ञाता, यज्ञा
जीतने वाला,
वाला, सांगो
नीतिशास्त्र
कला एवं
दोनों के
निधि के पद
यह आवश्य
कि क्या कर
किया जाय
पद पर प्रति
निरीक्षण क
संचालन के
अनुसार स
नीतिशास्त्र
पूर्वक कार्य
चाहिए। पो
में धर्मतत्त्व
है। प्राड्वि
ऐसा व्यक्ति
आदि की

आवश्यक है।[१५] शुक्रनीति के इन विचारों से स्पष्ट है कि मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की चारित्रिक योग्यताएं शासन के श्रेष्ठ संचालन एवं नियंत्रण के मार्ग में सहायक ही नहीं, अपितु महत्वपूर्ण हैं। वर्तमान शासन की दुर्व्यवस्था एवं दुर्बलता का कारण बहुत कुछ चारित्रिक पतन ही है, क्योंकि आज चारित्रिक योग्यता के सम्बन्ध में विचार तक नहीं किया जाता।

शुक्र-नीतिकार ने मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों का शिक्षित होना भी अनिवार्य बताया है। जहाँ मन्त्री के लिये नीतिशास्त्र का ज्ञाता होना आवश्यक है, वहीं उसके अनुरूप कार्य करना भी।[१६] मन्त्रियों के पद की प्रतिष्ठा एवं प्रकृति के अनुरूप विभिन्न प्रकार की शैक्षिक योग्यताएं निर्धारित की गयी हैं।

आचार्य शुक्र के अनुसार **पुरोधा** (पुरोहित) के पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह मंत्रानुसार अनुष्ठान करने में कुशल, वेद-त्रयी[१७] का ज्ञाता, यज्ञादि कर्म-परायण, जितेन्द्रिय, क्रोध को जीतने वाला, लोभ मोह से रहित, षडंग[१८] को जानने वाला, सांगोपांग धनुर्वेद का ज्ञाता, धर्म-अर्थ तथा नीतिशास्त्र को जानने वाला,[१९] शस्त्रास्त्र चलाने की कला एवं व्यूह-रचना में कुशल, श्राप और अनुग्रह दोनों के देने में समर्थ होना चाहिए।[२०] **प्रतिनिधि** के पद पर प्रतिष्ठित होने वाले व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह भलीभांति जानने वाला हो कि क्या करने योग्य है और क्या ऐसा है जिसे नहीं किया जाय।[२१] शुक्र-नीतिकार के अनुसार **प्रधान** के पद पर प्रतिष्ठित होने वाले व्यक्ति में सब कार्यों का निरीक्षण करने की शक्ति होनी चाहिए।[२२] सैन्य-संचालन के ज्ञान को रखने वाला व्यक्ति आचार्य के अनुसार **सचिव** के पद पर नियुक्त किया जाय। नीतिशास्त्र को जानने वाला एवं तदनुसार कुशलतापूर्वक कार्य करने वाला **मन्त्री** पद पर प्रतिष्ठित होना चाहिए। **पंडित** के पद पर पदासीन होने वाले व्यक्ति में धर्मतत्त्व को जानने की क्षमता होना अनिवार्य है। **प्राड्विवाक** के पद के लिये यह आवश्यक है कि ऐसा व्यक्ति लोक-व्यवहार तथा शास्त्रोक्त व्यवहार आदि की योग्यता से सम्पन्न हो।[२३] शुक्र-नीतिकार के अनुसार देश व लेख के विषय का ज्ञाता व्यक्ति ही **अमात्य** बनाया जा सकता है। आय-व्यय से सम्बन्धित कार्य के ज्ञाता व्यक्ति को **सुमन्त** के पद पर आसीन करना चाहिए। **दूत** हृदयगत् भाव तथा चेष्टा को समझने वाला, उत्तम स्मरणशक्ति-सम्पन्न, देशकालानुरूप कर्त्तव्य कर्म को जानने वाला, संधि, विग्रह, यान (चढ़ाई करना), आसन (किले आदि में रहकर लड़ना), द्वैधीभाव (ऊपर से शत्रुओं से मिलकर भीतर से शत्रुता रखकर कार्य करना), समाश्रय (सबल का आश्रय लेना) आदि का ज्ञाता तथा बोलने में चतुर व्यक्ति होना चाहिए।[२४] इनसे स्पष्ट है कि आचार्य शुक्र मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों के लिये निर्धारित मात्र कुछ चारित्रिक योग्यताओं से ही सन्तुष्ट नहीं थे। वस्तुतः वे पद के कार्य की प्रकृति के अनुरूप निर्दिष्ट योग्यताओं से सम्पन्न व्यक्ति को ही मन्त्रिमण्डल का सदस्य बनाना चाहते थे।

(ब) अयोग्यताएँ

शुक्र-नीतिकार ने अपने ग्रन्थ में केवल योग्यताओं का ही समावेश नहीं किया, अपितु मनुष्य में सामान्यतः पायी जाने वाली दुर्बलताओं का भी उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया है कि मन्त्रि-परिषद् के सदस्य में अयोग्यताएं नहीं होनी चाहिए। उन्होंने इतिहास की अनेक घटनाओं का उल्लेख करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, आलस्य, मत्सरता आदि दुर्गुणों से युक्त कुत्सित व्यक्ति यदि मन्त्रि-परिषद् के सदस्य बन जायेंगे तो निश्चय ही राज्य तथा राजा का नाश हो जायेगा।[२५] अतएव उक्त दुर्गुणों से युक्त व्यक्ति को मन्त्रि-परिषद् का सदस्य बनाने का उन्होंने निषेध किया है।[२६] उन्होंने यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि राजा उपर्युक्त योग्यता एवं अयोग्यताओं के आधार पर ही विवेकपूर्वक मन्त्री पद पर नियुक्ति करे।

यहाँ यह विचारणीय है कि आज भी संसदीय प्रजातंत्र वाले देशों में मन्त्रियों के लिये अप्रत्यक्ष रूप से योग्यताओं को विचार का विषय तो बनाया गया है, किन्तु इसके सम्बन्ध में विस्तार से विचार उपलब्ध नहीं

होता। ये अप्रत्यक्ष योग्यताएं भी संसद-सदस्यों की मात्र चुनाव-पात्रता का निर्धारण करती हैं, किन्तु मन्त्री जैसे महत्वपूर्ण पद के लिये पागलपन और दिवालियापन की अयोग्ताएं पद की गरिमा एवं प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं हैं। वस्तुतः मन्त्रिपद के लिये आचार्य शुक्र द्वारा निर्दिष्ट योग्यता-अयोग्यताओं की दृष्टि से मानव-प्रकृति का अध्ययन राजनीतिक व्यवहार के लिये आवश्यक है, क्योंकि राजनीतिक व्यवहार के मूल मानवीय आचरण को आचार्य शुक्र ने बहुत सूक्ष्मता से देखने व परखने का प्रयास किया है।

(स) सदस्य-संख्या :

मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या के विषय में प्राचीन भारतीय विचारक एकमत नहीं हैं। रामायणकार ने मन्त्रि-परिषद् की सदस्य-संख्या ८ मानी है।[३७] आचार्य मनु ने यह संख्या ७ या ८ निश्चित की है,[३८] जबकि कौटिल्य मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों का निर्धारण शक्ति एवं आवश्यकतानुसार चाहते हैं।[३९] मंत्रणा को अनिवार्य मानते हुए शुक्र ने इनकी संख्या १० निर्धारित की है। आचार्य ने १० सदस्यों की सूची में पुरोधा[४०] (पुरोहित), प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्राड्विवाक, पडित, सुमन्त, अमात्य और दूत को सम्मिलित किया है।[४१] शुक्र-नीति में ही एक अन्य स्थान पर मन्त्रिपरिषद् के ८ सदस्यों का भी वर्णन किया गया है। किन्तु वहाँ पुरोहित तथा दूत का उल्लेख नहीं है।[४२] वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्र-नीति में किसी अन्य व्यवस्था के संदर्भ में इस मत का उल्लेख किया गया है। मन्त्रि-परिषद् की सदस्य-संख्या के बारे में प्राप्त मतभिन्नता से स्पष्ट है कि मन्त्रि-मण्डल का विस्तार सरकार के कार्य की सीमा पर निर्भर था।

(द) वेतन :

शुक्र-नीति में १० सदस्यों वाले मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों का वेतन इस प्रकार निर्धारित किया गया है—पुरोधा (पुरोहित) से दूत-पर्यन्त पूर्ववर्ती को परवर्ती की अपेक्षा दश मांश अधिक प्राप्त होगा। इस प्रकार सबसे अधिक वेतन पुरोधा (पुरोहित) का और सबसे कम दूत का माना है।[४३] इससे पुरोधा (पुरोहित) न केवल पद के महत्व की दृष्टि से, अपितु वेतन की दृष्टि से भी मन्त्रिमण्डल का सबसे उच्च सदस्य दृष्टिगोचर होता है।

मंत्रिमण्डल के अधिकार एवं कर्त्तव्य :

वर्तमान समय की भांति शुक्र ने मंत्रिमण्डल के सामूहिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का विवेचन तो नहीं किया, किन्तु मंत्रिमण्डल के सदस्यों के अलग-अलग अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की विवेचना अवश्य की है। इतना ही नहीं, मंत्रिमण्डल की निर्णय-प्रक्रिया से तो यह भी स्पष्ट है कि सभी निर्णय मंत्रिमण्डल के विचारोपरान्त ही लिये जायेंगे और इस प्रकार लिये जाने वाले निर्णयों पर राजा तो मात्र हस्ताक्षर करने वाला होगा।

आचार्य शुक्र ने **पुरोधा** (पुरोहित) के पद को सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोच्च[४४] मानते हुए उसका कर्त्तव्य शास्त्रोक्त पूजन एवं अनुष्ठान के द्वारा राजा और राज्य की रक्षा करना निश्चित किया है। पुरोधा (पुरोहित) के कोप के भय से राजा भी धर्म एवं नीतियुक्त आचरण करता है[४५], क्योंकि पुरोहित को शुक्रनीतिकार ने यह विशेष अधिकार दिया है कि वह (पुरोधा) अच्छे वंश में उत्पन्न राजा को भी गुण, नीति तथा बल या सेना से द्वेष रखने के कारण राज्य के नाश का कारक मानकर राजा पद से हटा दे तथा उसके स्थान पर मंत्रिमण्डल की सम्मति लेकर उस राजवंश में उत्पन्न हुए, गुणों से युक्त किसी भी अन्य व्यक्ति को राज-पद पर नियुक्त करे।[४६अ] इस प्रकार पुरोहित का कार्य सर्वोच्च एवं प्रमुख मार्गनिदेशक के रूप में प्राप्त होता है। वस्तुतः पुरोधा की स्थिति बहुत कुछ प्रधानमंत्री जैसी है। **प्रतिनिधि का कर्त्तव्य** : जहाँ एक ओर किसी कार्य के अहितकर होने की स्थिति में भी उसका शीघ्रतापूर्वक किया जाना अनिवार्य प्रतीत हो तब प्रतिनिधि ऐसे कार्य को राजा से कहकर कराये तथा स्वयं करे, वहीं दूसरी ओर जो कार्य हितकर भी हो किन्तु उसका उस समय पर करना उचित न हो तब न तो राजा से कहे और न स्वयं कराये।[४६] शुक्रनीतिकार ने समस्त राज्य-कार्यों क

निरीक्षण करके उनमें सत्य और असत्य का निर्धारण कर, उसी के अनुरूप कार्य करने का परामर्श देना तथा निरीक्षण करने का पूर्ण दायित्व **प्रधान** का माना है।[३७] **सचिव** का आचार्य ने रक्षामन्त्री के रूप में कर्त्तव्य निर्धारित किया है। उन्होंने लिखा है—उसे हाथी, घोड़े, ऊंट, रथ, पैदल, सैनिक[३८], विदेशी भाषाओं में संकेत और व्यूह-रचना का सतत अभ्यास करने वाला होना चाहिए। पूर्व-पश्चिम दिशा के देशों में जाने वाला, मध्यम तथा उत्तम श्रेणी के कार्य करने वाला, राजचिह्न, शस्त्र तथा अस्त्र धारण करने वाला, अस्त्र चलाने आदि के नियमों को जानने वाला होना चाहिए। कार्य में आने एवं न आने योग्य प्राचीन एवं नवीन घुड़सवारों की संख्या कितनी है ? शस्त्र, गोला-बारूद से युक्त सामग्री की मात्रा कितनी है ? आदि उपर्युक्त सम्पूर्ण तथ्यों पर भली-भांति विचार करने के उपरान्त इन सभी को यथार्थ रूप से लिखकर राजा के समक्ष निवेदन करने का कार्य भी सचिव के लिये निश्चित किया है।[३९]

मंत्री का शुक्राचार्य ने विदेशमंत्री के रूप में कार्य का दायित्व निश्चित किया है। उनके अनुसार वह (मन्त्री) सन्धि, विग्रह, यान आदि के साथ सामादि के उपायों के संदर्भ में भली प्रकार विचार करने के उपरान्त प्रस्तुत विषय में उक्त चारों साधनों में से किसका प्रयोग किन परिस्थितियों में और किस प्रकार किया जाये तथा प्रयोग के परिणाम पर विचार के पश्चात् ही राजा को उनके प्रयोग के लिये परामर्श देगा।[४०] इस प्रकार शुक्र-नीति में मंत्री वैदेशिक सम्बन्धों का नियामक प्रतीत होता है। **प्राड्विवाक** का कर्त्तव्य आचार्य शुक्र ने न्यायिक निर्णय करना निश्चित किया है। उनके अनुसार न्यायिक निर्णय के उद्देश्य से वह सभा में बैठेगा तथा सभ्यों के साथ साक्षियों एवं लेखों के द्वारा सत्य और असत्य का निर्णय करेगा। जहाँ साक्षी और लेख उपलब्ध नहीं होंगे, वहाँ दिव्य साधनों के द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान, दृष्टान्त तथा लोकशास्त्र पर विचार के उपरान्त निर्णय करेगा। इस प्रक्रिया से लिये जाने वाले निर्णय से राजा को अवगत कराने का कार्य भी प्राड्विवाक द्वारा किया जायेगा।[४१] प्राड्विवाक की स्थिति के अध्ययन से तथा मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों में इसकी गणना से तो ऐसा लगता है कि जहाँ एक ओर यह राजा को वेदसम्मत परामर्श देने का कार्य करने वाला न्यायमंत्री होगा, वहीं दूसरी ओर न्यायिक निर्णय करते समय मुख्य न्यायाधिपति के कर्तव्य का भी निर्वाह करेगा। प्राड्विवाक की मुख्य न्यायाधिपति व न्यायमंत्री की भूमिका इंग्लैण्ड की लार्डसभा का स्मरण दिलाती है।

आचार्य शुक्र ने **पण्डित** के पद पर प्रतिष्ठित होने वाले व्यक्ति का यह कार्य बताया है कि ऐसा व्यक्ति भली प्रकार से यह देखे कि वर्तमान समय में जनता प्राचीन या नवीन में से किस धर्म का पालन कर रही है तथा शास्त्र-निर्दिष्ट होने के उपरान्त भी किस धर्म का अनादर कर रही है ? ऐसे कौन से प्रचलित धर्म हैं, जो शास्त्र-विरुद्ध हैं ? इसके अतिरिक्त, इहलोक तथा परलोक में कौन सा धर्म सुखप्रद है ? इस प्रकार पण्डित को उपर्युक्त तथ्यों पर विवेकपूर्वक विचार के उपरान्त राजा से निवेदन करना चाहिए।[४२]

पण्डित के लिये निर्दिष्ट उक्त कार्यों के सम्बन्ध में यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि आचार्य शुक्र ने धर्म को मात्र 'रिलीजन' या 'मजहब' के रूप में ही स्वीकार नहीं किया, अपितु इसके अनेकार्थ प्रतिपादित किये हैं, जिनमें देशादि नियम भी एक माना है। इस तथ्य की पुष्टि 'पण्डित' को सौंपे गये कार्यों की प्रकृति से भी स्पष्ट होती है। 'पण्डित' के पद के कर्तव्यों के विश्लेषण से निष्कर्ष निकलता है कि पण्डित एक ऐसे पर्यवेक्षक के रूप में कार्य करेगा, जो राज्य द्वारा प्रतिपादित नियमों पर जनता की प्रतिक्रिया के अध्ययन के साथ यह भी देखेगा कि ऐसी कौन-सी प्रचलित मान्यताएं व नियम हैं जो शास्त्रोक्त नैतिकता के विरुद्ध हैं। अध्ययन के विवेचन से यह भी प्रतीत होता है कि पण्डित का कार्य किसी नियम व मान्यता के उल्लंघन के लिये उत्तरदायी परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करना भी था। वस्तुतः वह (पण्डित) विधि-व्यवस्था के अध्ययन, अवलोकन व पर्यवेक्षण के साथ शासन की नीति और उसके प्रयोग का भी सूक्ष्मता से विवेचन करेगा।

आज की गिरती हुई वित्त-व्यवस्था की स्थिति में 'पण्डित' को सौंपे गये कार्यों जैसे दायित्वों का निर्वाह करने वाले मंत्री की पृथक नियुक्ति का विचार आज के लिये विचारणीय विषय है।

शुक्रनीति में **सुमन्त** की स्थिति मंत्रिमण्डल में वित्त-मंत्री के रूप में उपलब्ध होती है, क्योंकि इसका कार्य वर्ष के आय-व्यय का लेखा व उसकी व्यवस्था का ब्यौरा तैयार करके राजा के समक्ष प्रस्तुत करना है।[४३] आचार्य शुक्र ने **अमात्य** के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति के कार्यों को विस्तार से बताते हुए लिखा है—राज्य में कितने ग्राम या जंगल हैं, किसके द्वारा कितनी भूमि जोती गयी है तथा उससे उस जोतने वाले व्यक्ति को कितना धान्य मिला, किस क्षेत्र की कितनी भूमि बिना जुती है तथा कितना भाग बचा है, देश में प्रतिवर्ष शुल्क एवं अपराधियों के दण्ड से प्राप्त द्रव्य कितना है, बिना जुती भूमि में होने वाला सस्यादि कितना है और जंगल से मिलने वाला द्रव्य तथा खान से निकलने वाला द्रव्य कितना है, अज्ञात स्वामी वाली वस्तु, बिना स्वामी का द्रव्य, हरण किया हुआ द्रव्य एवं चोरों से दण्ड के रूप में प्राप्त किया हुआ धनादि कितना-कितना है? उपर्युक्त सभी सूचनाओं का समग्र विवरण प्राप्त करके राजा से निवेदन करने का दायित्व अमात्य का निश्चित किया गया है।[४४] इस मत से ऐसा प्रतीत होता है कि अमात्य मूल रूप में कृषि-मंत्री के रूप में कार्य करेगा, किन्तु वह राजस्व-मंत्री एवं वित्तमंत्रालय से सम्बन्धित कुछ उप विभागों का भी अधिकारी होगा। इस प्रकार वित्तमंत्रालय पर दो मंत्रियों के नियंत्रण से आचार्य शुक्र की विकेन्द्रीकरण की विचारधारा स्पष्ट होती है।

शुक्रनीतिकार के अनुसार **दूत** को देश-कालानुसार सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, समाश्रय आदि के द्वारा कार्यों को भली भांति जानने और इनका प्रयोग करने वाला होना चाहिए।[४५] इन लक्षणों से प्रकट होता है कि शुक्रनीति में 'दूत' वर्तमान समय के राजदूत से अधिक अधिकार-सम्पन्न हैं।

मन्त्रिमण्डल का विभागीय संगठन :

आधुनिक मंत्रिमण्डलीय शासन वाले देशों की भांति तो शुक्रनीति में मंत्रिमण्डलीय सचिवालय का संगठन उपलब्ध नहीं होता, पर मंत्रियों के विभागों के संगठन की अलग-अलग व्यवस्था अवश्य दृष्टिगोचर होती है। शुक्रनीति के गहन विवेचनात्मक अध्ययन के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्र विभागीय कार्य-विभाजन के सिद्धान्त को अवश्य स्वीकार करते थे। उन्होंने प्रत्येक मंत्री के विभाग के संगठन का विचार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रत्येक मंत्री के अधीन एक विभाग होना चाहिए और उस विभाग में तीन सदस्य होंगे। विभाग का अध्यक्ष मंत्रिमण्डल का सदस्य होगा और दो अन्य सहायक होंगे।[४६]

(अ) पदोन्नति

आचार्य शुक्र ने पदोन्नति का भी उल्लेख किया है। सहायकों के अनुभवी और अधिक बुद्धिमान होने की स्थिति में, राजा द्वारा इन्हें पदोन्नत करने का विचार प्रस्तुत किया है।[४७] सम्भवतः इन सहायकों को राज्य-मंत्री, उपमंत्री या विभागीय सचिव के रूप में रखने का विचार शुक्रनीतिकार के मस्तिष्क में रहा होगा। विचार की मौलिकता की दृष्टि से यहाँ यह उल्लेख असंगत न होगा कि इंग्लैण्ड में सर स्टेफर्ड तीर्थ कोट (१८८५) की पदोन्नति या इससे पूर्व का ऐसा कोई विचार शुक्रनीति के पदोन्नति के विचार की पुनरावृत्ति मात्र ही है।

(ब) स्थानान्तरण

विभागीय संगठन के अन्तर्गत आचार्य शुक्र ने स्थानान्तरण-पद्धति का भी प्रावधान किया है। उनका विचार है कि किसी भी विभाग के अधिकारी को किसी एक विभाग में अधिक समय तक नहीं रखना चाहिए। एक स्थान पर अधिक दिन तक रहने के कारण अधिकाररूपी मद व्याप्त हो जाता है,[४८] अतः शुक्रनीतिकार ने राजा को यह निर्देश दिया है कि वह (राजा) मंत्रिमण्डल के सदस्यों को एक-दूसरे के पदों

पर—कभी सुमन्त को अमात्य के पद पर और कभी अमात्य को सुमन्त के पद पर योग्यतानुसार स्थानान्तरित करके (बदली करके) नियुक्त करता रहे।[४९] इस भांति राज्य के मंत्रिमण्डल के अधिकारियों को कभी अधिकार से अधिक शक्ति का प्रदर्शन न करने दे। साथ ही उन्हें (मंत्रिमण्डल के दसों सदस्यों को) परस्पर समतल वाला बनाये रखे, किन्तु ऐसा परिवर्तन इनकी कार्य-निपुणता का ३, ५, ७, १० वर्षों में भलीभांति परीक्षण करने के बाद ही करना चाहिए।[५०]

स्थानान्तरण के इस विचार से एक विरोधाभास उपस्थित हो जाता है—जहाँ एक ओर प्रत्येक विभाग के लिये मंत्रिमण्डल के सदस्य की विभागीय कार्य के अनुरूप कुछ विशिष्ट योग्यताएं निर्धारित की हैं, वहीं दूसरी ओर स्थानान्तरण के विचार से इन कार्य-विशिष्ट योग्यताओं का महत्व व उपयोगिता नष्टप्राय हो जाती है। स्थानान्तरण-पद्धति के तथ्यों के विश्लेषणात्मक विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी मंत्रिमण्डल के सदस्य का स्थानान्तरण ३,५,७,१० वर्ष तक एक निश्चित विभाग में कार्य करने के पश्चात् ही किया जायेगा। इसके अतिरिक्त मात्र समय का विचार ही नहीं किया जायेगा, अपितु उनकी कार्य-निपुणता के परीक्षण के बाद ही स्थानान्तरण सम्भव होगा। इन तथ्यों से प्रकट होता है कि मंत्रिमण्डल के सदस्य अन्य विभागों की कार्य-प्रविधि व प्रक्रिया की जानकारी के पश्चात् ही स्थानान्तरित किये जा सकेंगे, क्योंकि मंत्रिमण्डल के प्रत्येक सदस्य को दूसरे विभाग की जानकारी विभागीय अन्तर्निर्भरता व सम्बन्ध तथा मंत्रिमण्डल की संयुक्त बैठक से स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। फिर भी, स्थानान्तरण उसी स्थिति में सम्भव हो सकेगा, जब सम्बन्धित सदस्य उक्त अवधि के साथ नवीन विभाग के बारे में पूरी-पूरी जानकारी सहित कार्य-दक्षता-सम्पन्न हो जाये।

आजकल भी स्थानान्तरण देखने को मिलते हैं और ब्रिटेन में भी इस व्यवस्था की विशेषताएं स्वीकार की गयीं, किन्तु वे न तो इतने स्पष्ट रूप में प्रतिपादित की गयीं और न उनके पीछे किसी औचित्य की गरिमा ही देखने को मिलती है। आज के स्थानान्तरणों का आधार परिवर्तन की मौलिक प्रकृति—प्रशासनिक सुधार—के अनुरूप न होकर राजनीतिक ही अधिक देखने को मिलता है, जिससे उसके मूल उद्देश्य का तत्त्व ही नष्टप्राय हो जाता है। यदि आज शुक्रनीति के विचार की प्रकृति के अनुरूप स्थानान्तरण-पद्धति के सिद्धान्तों को लागू किया जाये तो हो सकता है राजनीतिक दाँव-पेच, जोड़-तोड़, कूटनीतिक आडम्बर एवं दिखावे की कृत्रिम राजनीतिक कलाबाजी के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक दबाव-प्रक्रिया आदि जैसी तुच्छ घटनाएं कम होकर कुशलता व अनुभव पर अधिक ध्यान दिया जाने लगेगा, साथ ही अधिक महत्व के पद व विभाग प्राप्ति की होड़ भी समाप्त होकर श्रेयस्तर प्रशासन चल सकने में सहायता मिल सकेगी।

(स) विभागीय प्रतिवेदन (Departmental Report)

शुक्रनीति में प्रत्येक विभाग की आख्या (Report) राजा के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रावधान किया गया है। आचार्य शुक्र ने प्रतिपादित किया है कि मंत्रिमण्डल के प्रत्येक सदस्य एवं विभागाध्यक्ष के लिये यह अनिवार्य है कि वे अपने विभाग से सम्बन्धित कार्यों का वार्षिक, मासिक, दैनिक विवरण राजा के समक्ष लिखित रूप में प्रस्तुत करें।[५१] शुक्रनीति के इस विचार से यह स्पष्ट होता है कि मंत्रिमण्डल के सदस्यों को स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने की सुविधा तो प्राप्त थी, किन्तु वे स्वच्छन्द नहीं थे। इस प्रावधान से शुक्रनीति की शासन-व्यवस्था में शक्ति-संतुलन सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

मन्त्रिमण्डलीय कार्य-प्रणाली

मंत्रिमण्डल की कार्य-पद्धति के विश्लेषणात्मक अध्ययन की क्रमबद्धता से स्पष्ट है कि प्रत्येक विभाग से सम्बन्धित प्रस्ताव पर सर्वप्रथम विचार विभाग के अधीनस्थ कर्मचारियों के द्वारा किया जायेगा, तदुपरान्त विभागाध्यक्ष विचार कर निर्णय लेगा।

विभागाध्यक्ष के निर्णय के पश्चात् प्रस्ताव मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्यों के पास विचारार्थ भेजा जायेगा। मंत्रिमण्डल के सदस्य प्रस्ताव पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार कर अपना मत व्यक्त कर सकेंगे। इन सभी के मत लेखबद्ध किये जायेंगे और इस प्रकार बहुमत वाले पक्ष का निर्णय मानने एवं तदनुसार निर्णय करने के लिये राजा बाध्य होगा। वस्तुतः आधुनिक मंत्रि-परिषद् के निर्णयों की भांति ही शुक्रनीति के मंत्रि-परिषद् के निर्णय भी बहुमत पर आधारित होंगे तथा राजा तो इन्हें मात्र क्रियान्वित करने वाली शक्ति के रूप में कार्य करेगा।

शुक्रनीति के विश्लेषणात्मक अध्ययन के अनुसार—शुक्रनीति में शासन के कार्यों का दस विभागों में विभाजन किया गया है। एक विभाग में तीन सदस्य होंगे, जिनमें से एक विभाग का अध्यक्ष होगा। अध्यक्ष मंत्रिमण्डल का सदस्य होगा। प्रत्येक अध्यक्ष अपने विभाग पर पूर्ण अधिकार एवं नियंत्रण रखेगा। मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य का कार्यक्षेत्र निश्चित व निर्धारित है। विभागीय कार्यों के लिये वह (अध्यक्ष) उत्तरदायी है। मंत्रिमण्डल के प्रत्येक सदस्य की अपने विभाग के लिये एक अलग 'मुद्रा' होगी, जिसका प्रयोग विभागीय लेखों पर आवश्यकतानुसार किया जायेगा।[५२]

शुक्रनीति में विचार एवं निर्णय की दो प्रक्रिया दृष्टि-गोचर होती हैं—मौखिक एवं लिखित। मौखिक विचार की प्रक्रिया के भी दो रूप प्रतीत होते हैं—मंत्रिमण्डल के अलग-अलग सदस्यों से तथा मंत्रिमण्डल से सामूहिक स्तर पर। प्रथम के अन्तर्गत राजा मंत्रिमण्डल के सदस्यों को अलग-अलग बुलाकर परामर्श कर सकेगा। द्वितीय के अन्तर्गत सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल को एक साथ सामूहिक रूप से बुलाकर राजा परामर्श कर सकेगा। उल्लेखनीय है कि शुक्राचार्य ने सामूहिक विचार व निर्णय की प्रक्रिया का उल्लेख स्पष्टतः नहीं किया है, परन्तु प्राचीन भारत में मंत्रिमण्डल से सामूहिक रूप में परामर्श व विचार-विमर्श की व्यवस्था व्यापक रूप में प्रचलित थी। मनुस्मृति में सामूहिक व अलग-अलग, दोनों प्रक्रियाओं को अपनाने का परामर्श राजा को दिया गया है।[५३] 'सभा' में विचार-विमर्श की प्रकृति तथा मंत्रिपरिषद् की सहायता व परामर्श से राजा को कार्य करने के निर्देश आदि कुछेक संकेतों के आधार पर कह सकते हैं कि आचार्य शुक्र ने एक साथ सामूहिक रूप से किसी प्रस्ताव या प्रश्न पर विचार की प्रक्रिया भी स्वीकार की। सम्भव है आचार्य शुक्र का विचार मंत्रिमण्डल की बैठक में सामूहिक विचार की मौखिक प्रक्रिया अपनाने का रहा हो।

निर्णय व विचार की लिखित विधि के अन्तर्गत एक निश्चित प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक विभाग व उसके प्रस्ताव एवं समस्या से सम्बन्धित विभिन्न राजकीय लेखों के वर्णन उपलब्ध हैं[५५], जिन्हें सामान्यतः वृत्त (समाचार) सम्बन्धी व आय-व्यय सम्बन्धी दो भागों में विभाजित किया गया है।[५६] लेखों के भेदों को स्पष्ट करते हुए शुक्राचार्य ने लिखा है—जिन पर राजा की आज्ञा लिखित रूप में मुद्रा (मुहर) युक्त होती है तथा जिन पर केवल राजा के हस्ताक्षर होते हैं, वे लेख क्रमशः उत्तम तथा साधारण उत्तम होते हैं। इसी प्रकार मंत्रियों द्वारा लिखित आज्ञा मध्यम तथा पुरवासियों द्वारा लिखित आज्ञा कनिष्ठ मानी गयी है। उक्त प्रकार के सभी लेख आचार्य शुक्र ने कार्यसिद्धि में समर्थ माने हैं। उनका विश्वास है कि मंत्रिपरिषद् के सभी सदस्य अपने निर्णयों को क्रियान्वित कराने में सामर्थ्यवान हो सकेंगे।[५६] इस से स्पष्ट है कि मंत्रिपरिषद् के सदस्य अपने निर्णयों को सीधे क्रियान्वित करने का भी अधिकार रखते थे। उक्त सम्पूर्ण पत्रों की लेखन-विधि का निरूपण शुक्रनीति में विस्तार के साथ किया गया है।[५७]

प्रत्येक विभाग से सम्बन्धित समस्या पर सर्वप्रथम विभाग के अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा लिखित प्रस्ताव किया जायेगा, इस लिखित प्रस्ताव पर विभागीय अध्यक्ष राजा से परामर्श कर निर्णय लेगा।[५८] इस प्रकार विभागीय स्तर पर अध्यक्ष के निर्णय के उपरान्त प्रस्ताव मंत्रिमण्डल के अन्य विशिष्ट सदस्यों के विचारार्थ प्रस्तुत किया जायेगा। शुक्रनीति

में विभागीय स्तर पर उक्त प्रकार के प्रस्ताव सचिव, मंत्री, प्राड्-विवाक, पण्डित, दूत, अमात्य, एवं सुमन्त, मंत्रिमण्डल के ये सात सदस्य प्रस्तुत करेंगे। यद्यपि शुक्रनीति में स्पष्ट रूप से इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध नहीं होता, किन्तु उक्त सदस्यों के विभागीय अधिकार एवं कर्त्तव्यों से यह निष्कर्ष निकलता है। उक्त सात सदस्यों के अतिरिक्त तीन सदस्य— प्रधान, प्रतिनिधि और पुरोहित मात्र निरीक्षण-कार्य करने वाले होंगे—ये क्रमशः कार्य की सत्यता व यथार्थता, परिस्थितियों की सापेक्षता व सानुकूलता एवं समग्र निरीक्षण की दृष्टि से विचार कर अपना निर्णय अंकित करेंगे। मंत्रिमण्डल के इन सात सदस्यों में से अमात्य और सुमन्त की स्थिति वित्त व राजस्व तथा आय-व्यय का लेखा रखने के परिणामतः अन्य पांच सदस्यों से भिन्न है। ये दोनों सदस्य अपने विभागों— वित्त, राजस्व, कृषि—का विवरण तथा आय-व्यय-लेखा का प्रस्ताव प्रस्तुत करेंगे और शेष पांच सदस्यों के द्वारा प्रस्तुत विभागीय प्रस्तावों पर भी वित्त, राजस्व एवं आय-व्यय-लेखा को दृष्टि में रखकर विचार कर अपने मत व्यक्त करेंगे। मंत्रिमण्डल के द्वारा विचार व निर्णय की प्रक्रिया में युवराज की भूमिका भी महत्वपूर्ण है।

उपर्युक्त निर्धारित प्रक्रिया तथा प्रस्तावों पर विभागीय स्तर पर उनके अध्यक्षों के द्वारा निर्णय लिये जाने के पश्चात् मत्रिमण्डल के विशिष्ट सदस्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करके अपनी-अपनी सम्मति निर्धारित शब्दों में अंकित करेंगे। इस प्रकार विचार करने का क्रम अमात्य से प्रारम्भ होकर पुरोहित तक रहेगा—

अमात्य	—	यह लेख ठीक लिखा है।
सुमन्त	—	मैंने इस लेख पर भली प्रकार विचार कर लिया है।
प्रधान	—	यह लेख-पत्र सत्य और यथार्थ है।
प्रतिनिधि	—	यह अंगीकार करने योग्य है।
युवराज	—	इसे अंगीकार करना चाहिए।
पुरोधा (पुरोहित)	—	यह लेख मुझे भी अभिमत है।

इस प्रकार मंत्रिमण्डल के सदस्यों की सम्मति उक्त प्रक्रिया से अंकित हो जाने के उपरान्त[५९] राजा—'यह अंगीकृत है'[६०] लिखकर हस्ताक्षर कर देगा। शुक्रनीतिकार का विचार है कि युवराजादि कार्याधिक्य के कारण व्यस्त होते हैं, उन्हें भलीभांति प्रत्येक लेख-पत्र को देखने का समय नहीं होता, अतः आचार्य शुक्र ने यथार्थ रूप में विचार करने का दायित्व विश्वास के आधार पर राजा के मंत्रिमण्डल का ही निश्चित किया है।[६१] इस प्रकार लिया जाने वाला निर्णय बहुमत पर आधारित होगा और राजा इसे मानने के लिये बाध्य होगा।[६२] वास्तव में मंत्रिमण्डल के सदस्यों के उपर्युक्त प्रक्रिया से विचार के पश्चात् राजा तो मात्र हस्ताक्षर करने वाली शक्ति के रूप में होगा। मंत्रिमण्डल के द्वारा उपर्युक्त टिप्पणियां अंकित होने के साथ हस्ताक्षर और मुद्रा का भी लगाया जाना आचार्य शुक्र ने अनिवार्य माना है।[६३] शुक्रनीतिकार ने विस्मरण को मानव-स्वभाव का अनिवार्य अंग मानते हुए लेख को ही प्रत्येक स्थिति में सच्चा निर्णायक माना है।[६४] उनके अनुसार लेख के बिना राज्य-कार्य का सम्पादन करने वाला राजा तथा लेखपत्र के अभाव में राजाज्ञा का पालन करने वाला भृत्य—दोनों ही चोर समझे जाते हैं,[६५] अतः राजा की मुद्रासहित निकला हुआ लेख ही वास्तविक राजा होता है, उसका शरीर नहीं।[६६]

शुक्रनीति की राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत मंत्रिमण्डल की आवश्यकता, महत्व, वास्तविक स्थिति, कार्यपद्धति, प्रभाव और भूमिका का सम्यक् विवेचन तथा तथ्यों के विश्लेषण, वर्गीकरण एवं संश्लेषण के आधार पर अध्ययन करने से शुक्रनीति मंत्रिमण्डलीय व्यवस्था-प्रधान ग्रन्थ प्रतीत होती है। आचार्य शुक्र के मंत्रिमण्डल की शासन में महत्ता और अनिवार्यता तथा मंत्रिमण्डल के संगठन में सदस्यों के लिये निर्धारित चारित्रिक, शैक्षिक एवं विभागीय कार्यदक्षता आदि जैसी योग्यताएं राजा के मंत्रिमण्डल के सदस्यों की नियुक्ति के अधिकार को तो प्रतिबन्धित करती ही हैं, साथ ही मंत्रिमण्डल को प्रभावशाली बनाने के लिये भी कम महत्व नहीं रखतीं। मंत्रिमण्डल के पद व विभाग के अनुरूप योग्यताएं निश्चित करना तो यह

स्पष्ट कर देता है कि आचार्य शुक्र मंत्रिमण्डल को वास्तविक कार्यपालिका के रूप में देखना या बनाना चाहते थे। मंत्रिमण्डल के अलग-अलग पदों में निहित कार्य एवं उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिये उन्हीं के अनुरूप ज्ञान व कार्यदक्षता का प्रावधान शुक्राचार्य की विचार-शक्ति की सूक्ष्मता व मंत्रिमण्डल की वास्तविक कार्य-पद्धति की व्यावहारिकता का द्योतक है। वस्तुतः शुक्र-नीतिकार आज के संसदीय प्रजातन्त्र की भांति मंत्रि-परिषद् को मात्र अधिकार सौंपने के पक्ष में नहीं थे, अपितु वे अधिकारों के निर्वहन की शक्ति भी संजोने के हामी थे। इसीलिये प्राचीन भारत में मंत्रिमण्डल योग्यता के आधार पर राजा पर अंकुश का ही कार्य नहीं करता था, अपितु शासन-संचालन में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण होने के साथ ही साथ व्यावहारिक भी थी।[६७] वर्तमान मंत्रिमण्डलीय शासन भी प्रधान मन्त्री व उसकी मंत्रिपरिषद् की योग्यता व व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। आज मंत्रिमण्डलीय शासन के अन्तर्गत पायी जाने वाली प्रधानमन्त्री की मंत्रिमण्डल-अध्यक्षीय व सर्वाधिकारवादी भूमिकाएं बहुत कुछ प्रधानमन्त्री व उसके सहयोगियों के व्यक्तित्व के अनुसार ही बदलती हैं।

शुक्रनीति में मंत्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी मंत्रिमण्डल के सदस्यों की प्रस्तावों पर लिखित सम्मति उन्हें व्यक्तिगत और तदुपरान्त सामूहिक उत्तरदायित्व के बन्धन में बहुत कुछ आबद्ध करती है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि आचार्य शुक्र प्रशासन-सम्बन्धी विभिन्न आदेशों के लिये विभागीय अध्यक्ष (मंत्रि-मण्डल का सदस्य) एवं पुरोहित आदि को ही उत्तर-दायी बनाना चाहते थे।

आचार्य शुक्र के पदोन्नति द्वारा मंत्री बनाने के विचार ने अधिक अनुभवी, योग्य मंत्रियों की नियुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। शुक्रनीति के वेतन, स्थानान्तरण व विभागीय प्रतिवेतन आदि के विचार से मंत्रिमण्डल की व्यावहारिक स्थिति की सुदृढ़ता का ज्ञान होता है।

शुक्रनीति में मंत्रिमण्डलीय कार्यपद्धति का आधार विभागीय है। मंत्रिमण्डल एवं युवराज के लिखित विचारोपरान्त बहुमत के आधार पर अंतिम रूप से निर्णय, राजा के अन्य विषयों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण मंत्रियों पर विश्वास करके राजा द्वारा हस्ताक्षर आदि के विचार से प्रतीत होता है कि शुक्र-नीति में राजा औपचारिक प्रधान ही है।

संक्षेप में, शासन-संचालन के लिये मंत्रिमण्डल की अनिवार्यता और महत्ता, उनके लिये चारित्रिक, शैक्षिक, विभागीय कार्यनिपुणता आदि विशिष्ट योग्य-ताओं व अन्य अयोग्यताओं का स्पष्ट उल्लेख, अधिकार एवं कर्त्तव्यों की मंत्रियों के लिये स्पष्ट व्यवस्था, मंत्रि-मण्डल के सदस्यों के निर्णय एवं विचार-पद्धति तथा विभागीय कार्य-स्वातंत्र्य के साथ राजा को पदच्युत करने का अधिकार, विभागीय आधार पर कार्यों का सम्पादन, बहुमत के निर्णय आदि जैसे तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि यद्यपि सम्पूर्ण शासनकार्य राजा के नाम से होता है, तथापि वर्तमान संसदीय प्रजातन्त्र की भांति सामूहिक उत्तरदायित्व न होते हुए भी आचार्य शुक्र का मंत्रिमण्डल वास्तविक शासक की शक्तियों का उपभोक्ता प्रतीत होता है। उपर्युक्त तथ्यों के सन्दर्भ में वास्तविकता तो यह है कि आधु-निक संसदीय प्रजातंत्रों में पायी जाने वाली व्यवस्थाएं शुक्रनीति में प्रतिपादित विचारों का विकसित और परिमार्जित रूप मात्र ही हैं।

अध्यक्ष, राजनीतिविज्ञान विभाग,
श्री ब्रजबिहारी महाविद्यालय,
कोसीकलां, मथुरा (उ० प्र०)

---

* शुक्रनीति प्राचीन भारत का नीतिप्रधान ग्रन्थ है, जिसमें ग्रन्थ के लेखक ने काव्यात्मक भाषा में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित नीतियाँ प्रतिपादित की हैं।

संदर्भ :

१. शुक्रनीति, २, २ एवं १.
२. शुक्रनीति, २, ३ एवं ७
३. वही, २, ५-७
४. वही, २, १०-११
५. वही, २, १२
६. वही, २, १३
७. चूंकि शुक्रनीतिकार ने मंत्रिमण्डल के सदस्यों में 'मंत्री' नाम भी प्रयुक्त किया है, अत: उन स्थलों को छोड़कर, जहाँ इस शब्द का प्रयोग 'मंत्री' नाम विशेष के लिये किया गया है, पाठक अन्य स्थलों पर प्रयुक्त मंत्री व मंत्रियों का क्रमश: मंत्रिमण्डल के एक सदस्य व अनेक सदस्यों के रूप में ही संगति के अनुसार अर्थ ग्रहण करें।
८. शुक्रनीति, २, ८
९. वही, २, ४२९-३०
१०. वही, २, ५५-५६-५७
११. वही, २, ११
१२. वही, २, ८
१३. शुक्रनीति
१४. वही, २, ९
१५. वही, २, ८२-८३
१६. शुक्रनीति, २, ८५
१७. यहाँ अभिप्राय ऋग्वेद, युजर्वेद, सामवेद से है।
१८. 'षडंग' से अभिप्राय वेद के व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष —इन छ: अंगों से रहा है।
१९. शुक्रनीति, २, ७८-७९
२०. वही, २, ८०
२१. वही, २, ८४
२२. वही, २, ८५
२३. शुक्रनीति, २, ८५-८६
२४. वही, २, ८७-८८
२५. शुक्रनीति, २, १०
२६. वही, २,९ एवं ११
२७. रामायण, बालकाण्ड, ७, ४-५ एवं १, ३
२८. मनुस्मृति, ७, ५४
२९. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १, १४, ४
३०. पुरोधा के लिये अन्यत्र पुरोहित शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

३१. शुक्रनीति, २, ७०-७२
३२. वही, २, ७३-७४
३३. वही, २, ७१-७२
३४. शुक्रनीति, २, ७५
३५ वही, २, ८०
३५ अ. गुणनीति बल द्वेषी कुल भूतोऽप्यधार्मिकः ॥

— — —

नृपो यदि भवेत्तं तु त्यजेद्राष्ट्र विनाशकम् ।
तत्पदे ततस्य कुलजं गुणयुक्त पुरोहितः ॥
प्रकृत्यनुमतिं कृत्वा स्थापयेद्राज्यगुप्तये ।
शुक्रनीति, २, २७४-२७५-२७६

३६. शुक्रनीति, २, ८८-८९
३७. वही, २, ९०
३८. वही, २, ९१
३९. वही, २, ९२-९५
४०. वही, २, ९६-९७
४१. शुक्रनीति, २, ९७-१००
४२. वही, २, १००-१०२
४३. शुक्रनीति, २, १०२-१०३ एवं ८७
४४. शुक्रनीति, २, १०४-१०७
४५. वही, २, ८७-८८
४६. वही, २, ११०-१११
४७. शुक्रनीति, २, ११५-११७
४८. वही, २, ११३-११४
४९. वही, २, ११९
५०. वही, २, १०९-११० एवं ११२
५१. शुक्रनीति, २, २९५-२९७
५२. शुक्रनीति, २, ११०-१११ एवं ३६९-३७१
५३. मनुस्मृति, ७, ५७
५४. शुक्रनीति, २, २९४-३२० विस्तार के लिये देखिए ।
५५. वही, २, २९९
५६. वही, २, २९४-२९५
५७. वही, २, ३६१-३६३
५८. वही, २, ९७, १००, १०१-१०३, १०७

५९. शुक्रनीति, २, ३६५-३६८

६०. वही, २, ३७०

६१. शुक्रनीति, २, ३७०-३७२

६२. वही, १, ३६६

६३. वही, २, ३६९

६४. वही, २, २९१

६५. वही, २, २९२

६६. वही, २, २९३

६७. द्रष्टव्य—Ashok in his Rock Series inscriptions section—VI, says that when he has passed an order with regard to a gift or a proclamation, should a discussion arise in the Parishad (Council of Ministers) and they (the ministers) shelve it, he should be informed of it; if there was a division of opinion with regard to his proposal in the parishad or a total rejection, he should at once be informed of it. That shows that the ministers had been for some time opposing the rulings of the Emperor.

—K. P. Jayaswal. Hindu Polity, Page. 279.

पुस्तक-समीक्षा

हिन्दी शोध : नये प्रयोग,
लेखक—डा० रमानाथ त्रिपाठी डी० लिट;
प्रकाशक—वाणी प्रकाशन, ६१-एफ, कमला नगर, दिल्ली-११०००७, प्रथम संस्करण १९७९, मूल्य ३० रुपये।

किसी भी साहित्यकृति या साहित्यकार का मूल्यांकन अपने में पूर्ण नहीं है। काल-सापेक्ष होने के कारण समय की गति के साथ मान्यताएँ बदलती हैं। परिणामतः रचना की मूल्यवत्ता में भी परिवर्तन होता है। इसी कारण साहित्य-जगत् में सदैव से मूल्यांकन की आवश्यकता रही है और रहेगी। चूंकि आज का विश्व बड़ी तेजी से गतिशील है, हमारे स्वीकार का सांचा भी परिवर्तन से होकर आगे बढ़ रहा है। इस दृष्टि से समीक्षकों का उत्तरदायित्व बढ़ गया है। फिर, युगविशेष के स्वीकृत समाज-शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्य-शास्त्रीय मानदण्डो के आधार पर किसी कृतिविशेष के विषय, भाषा, शिल्प आदि सभी पक्षों पर जितनी भी सूक्ष्मता से सोचें, उतने ही नये मूल्य निकलते जायेंगे। दृष्टिकोण को प्रसारित कर एक व्यापक धरातल पर यदि तुलनात्मक रूप से अध्ययन हो तो आलोचना की कितनी ही नूतन दिशाएं प्रकाशित होंगी।

इस दृष्टि से अलोचक डा० रमानाथ त्रिपाठी का सद्यः प्रकाशित शोधपरक ग्रन्थ 'हिन्दी शोध : नये प्रयोग' एक अभिनव उपलब्धि है। भारत की भावात्मक एकता की बात प्रचुरता से कही जाती है, पर इस दिशा में प्रयत्न का पर्याप्त अभाव परिलक्षित होता है। भारत की विभिन्न भाषाओं, साहित्य तथा संस्कृति की खोज कर एकता के बीजों को एकत्र करने में भारतीय साहित्यकार प्रायः श्रमकातर ही दृष्टि-गोचर होते हैं। ऐसी स्थिति में बंगाली, उड़िया और असमिया जैसी पूर्वांचलीय भाषा ही नहीं, अपितु संस्कृति का भी गंभीर अध्ययन कर डा० त्रिपाठी ने जो निचोड़ निकाला है, वह हिन्दी-भाषी तथा पूर्वांचल के निवासियों को एक भावसूत्र में बाँधने तथा उनके भाव-राज्य को विस्तृत करने में किसी महौषधि से कम नहीं। विषय की दृष्टि से भारतीय संस्कृति के प्रतीक 'राम' के साहित्य को लेकर अपने ऐक्य भाव को आपने सर्वभारतीय बना दिया।

उच्चतर गवेषणा के प्रसंग में पूर्वांचलीय राम-साहित्य और 'मानस' का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते समय सामने आये हुए कतिपय नये तथ्यों के उद्घाटन के साथ-साथ डा० त्रिपाठी ने तद्विषयक भ्रान्तियों का निराकरण किया। आलोच्य ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में प्रथम चार विषयों को छोड़कर शेष ९ लेख ऐसे ही विश्लेषण उपस्थापित करते हैं। आंचलिक संस्कृति की छानबीन करते हुए त्रिपाठी जी की शोध-दृष्टि कभी भाषा-संस्कृति को प्रभावित करने वाले पूर्वांचलीय वनवासी जन पर पड़ती है तो कभी बंगाल के बाड-लगान जैसे लोकगीतों पर जा टिकती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम और तृतीय लेख उसी को उपज हैं। 'सती मयना ओ लोर चन्द्राणी' जैसी खोज तो सराह-नीय है, पर 'चर्यागीत : भाषा- विवाद' जैसा लेख तुलनात्मक होने पर भी अधिक गहराई की अपेक्षा रखता है। उड़िया में डा० खगेश्वर महापात्र, सुरेन्द्र महान्ति, डा० बंशीधर महान्ति, वृन्दावनचन्द्र आचार्य आदि ने इस 'विवाद' को पर्याप्त सीमा तक सुलझा दिया है।

दूसरे खण्ड में सन्निहित चार निबंध अपने में कई आयामों को समेटे हुए हैं। लेखक अपने ही वातावरण से चरित्र चुनता और उसे आकर्षित करने वाले चरित्र की दृष्टि बचाकर उससे अपनी कृति का कलेवर मण्डित करता है। फिर भी, गवेषकों की अन्तर्भेदी दृष्टि उस सत्य को पकड़ ही लेती है। अपनी इस दृष्टि की सहायता से डा० त्रिपाठी ने 'कल्याणी' में से कल्याणीरूपी नकाब को हटाकर उड़िया नारी

कुन्तलाकुमारी को खोज निकाला। इसी खण्ड के शेष तीन लेखों में बंगाली साहित्य पर चर्चा हुई है, जो केवल परिचयात्मक नहीं है, बल्कि साहित्य के अछूते तथ्यों को उजागर करती हुई हमारे चैतन्य को व्यापकता प्रदान करती है, तर्क-बुद्धि का विस्तार करती है। 'भूखी पीढ़ी' का प्लाकॉर्ड लिये सेक्स और नग्नता किस प्रकार बंगाल से होती हुई हिन्दी प्रदेश में घुस रही है, उसका लेखा-जोखा वास्तव में साहित्य और संस्कृति को खतरे से बचाने का महत्व-पूर्ण पदक्षेप है।

ग्रन्थ के अन्तिम खण्ड में आलोचक के व्यक्तित्व का एक तीसरा ही पक्ष उभरकर सामने आया है। केवल कागज के पृष्ठ ही नहीं, अपितु लेखक ने इन लेखों में पत्थर के पृष्ठों को भी पलटने का प्रयास किया है। फिर भी, उतने में उनके शोध-भाव को सन्तोष नहीं होता। वे उन पत्थरों से बने मन्दिरों को अपने प्राचीन वाङ्मय में देखना चाहते हैं।

कुल मिलाकर, यह निर्विवाद सत्य है कि त्रिपाठी जी का भाव-जगत् व्यापक है और शोध-दृष्टि विस्तृत है, जिससे वे विविध आयामों को लेकर सोचने लगते हैं, परन्तु एक ही संकलन में एकसूत्रता नहीं रह पाती और पाठक के लगन में बिखराव आ जाता है। फिर भी, भिन्न-भिन्न विषयों को विभिन्न दृष्टिकोणों से ध्यान से देखने की प्रखर कला आलोचक का निजस्व है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

—डा० अजय कुमार पटनायक
हिन्दी विभाग, सामन्त चन्द्रशेखर महाविद्यालय,
पुरी (ओड़िसा)

सद्यः प्रकाशित

श्री गुरुजी गोलवलकर द्वारा अपने अन्तिम क्षणों तक विभिन्न अवसरों पर व्यक्त विचारों को सन्निहित किये वह पुस्तक जिसकी आप बहुत दिनों से प्रतीक्षा कर रहे थे—

बंच आफ थाट्स (अंग्रेजी, द्वितीय संस्करण)

लेखक—**मा० स० गोलवलकर**

(प्रथम संस्करण की अपेक्षा २०० पृष्ठों से अधिक अतिरिक्त सामग्री)

एक वयःस्थ महापुरुष के प्रेरणाप्रद विचारों का संकलन, जिनका जीवन-प्राण एवं व्रत हमारी भव्य संस्कृति और उत्तराधिकार के पुनर्जागरण के द्वारा हमारे देश को राष्ट्रों के सुहृद-समुदाय में महान बनाना रहा।

पृष्ठ-संख्या—७३२

मानक संस्करण २५.०० रु० आधा कैलिको आवरण-बन्धन आफसेट कागज निचोल (जैकेट)
पुस्तकालय-संस्करण ३०.०० रु० पूरा कैलिको आवरण-बन्धन आर्ट कागज निचोल (जैकेट)
प्लास्टिक निचोल (जैकेट) १ रुपया प्रति पुस्तक अतिरिक्त। वर्तन-अपहार आदि के विवरण-हेतु वितरकों को लिखें :—

**राष्ट्रोत्थान साहित्य, गावीपुरम मार्ग,
केम्पेगोवडा नगर, बंगलौर-५६००१९**

पत्र के स्वामित्व एवं अन्य विवरणों से सम्बन्धित घोषणा

पत्रक ४ (नियम ८ देखिए)

मंथन

१. प्रकाशन-स्थान	:	नयी दिल्ली
२. प्रकाशन-अवधि	:	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	:	पी० परमेश्वरन
क्या भारत का नागरिक है ?	:	हां, भारत का नागरिक है
पता	:	दीनदयाल शोध संस्थान,
	:	७-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर, नयी दिल्ली-११००५५
४. प्रकाशक का नाम	:	पी० परमेश्वरन
क्या भारत का नागरिक है ?	:	हाँ, भारत का नागरिक है
पता	:	दीनदयाल शोध संस्थान,
		७-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर, नयी दिल्ली-११००५५
५. संपादक का नाम	:	पी० परमेश्वरन
क्या भारत का नागरिक है ?	:	हाँ, भारत का नागरिक है
पता	:	दीनदयाल शोध संस्थान,
		७-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर, नयी दिल्ली-११००५५
६. उन व्यक्तियों के नाम व पते, जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों	:	दीनदयाल शोध संस्थान जो एक पंजिकृत संस्था है

मैं, पी० परमेश्वरन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गये विवरण सत्य हैं।

ह० —**पी० परमेश्वरन**

प्रकाशक के हस्ताक्षर

दि० १५-४-८०

इन गतिविधियों में हमारे साथ सम्मिलित होइए

● शोध

★ राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय जीवन के सभी पक्षों में गहन एवं विस्तृत शोध-कार्य आयोजिन करना
★ अध्येताओं को अनुसन्धान-सुविधाएं प्राप्त कराना
★ शोध एवं सन्दर्भ पुस्तकालय का संधारण

● प्रकाशन

★ 'मंथन' त्रैमासिक (हिन्दी और अंग्रेजी) का प्रकाशन एवं प्रसारण
★ हिन्दी और अंग्रेजी में पुस्तकें एवं अध्ययन-पत्र प्रकाशित करना

● सामाजिक कार्य

★ सर्वांगीण ग्रामीण पुनर्निर्माण—आदर्श जिलों का विकास
★ बाढ़, तूफान एवं सूखा सहायता कार्य
★ भैषज व्रतसन्धान एवं भैषज कोष-संवर्धन
★ सर्वांगीण बाल-विकास प्रकल्प

अधिक विवरणों के लिये सम्पर्क करें :

दीनदयाल शोध संस्थान

स्वामी रामतीर्थ नगर,
नयी दिल्ली-११००५५

दूरभाष : ५२६७३५ • ५२६७९२

(समाचार पत्र-पंजीयक, भारत, नयी दिल्ली) पंजीयन संख्या आर० एन०—३२४८६/७८

DEENDAYAL RESEARCH INSTITUTE'S

Latest Publication

"THE INDIAN SPIRIT".

by SHRI M.P. PANDIT

- **A Book that gives an insight into the true Indian Spirit**
- **Covers series of five lectures delivered by Shri M.P. Pandit of Aurobindo Ashram, Pondicherry at the Deendayal Research Institute, New Delhi**
- **The subjects of the Lectures are :—**

  1. **Fundamentals of Indian Culture**
  2. **India's Contribution to the World—Present & Future**
  3. **Towards Socio-Political Reconstruction of India**
  4. **The Time-Spirit**
  5. **The Destiny of Man**

- **Price : Rs 12.00; $4.00; £ 2.00**

SPECIAL DISCOUNT OFFER

- **20% discount on individual purchases plus free packing and postage**
- **25% discount for agents on purchase of five copies or more plus free packing and postage**

Place orders till offers open

For further details contact :

THE PUBLICATION DIVISION,
DEENDAYAL RESEARCH INSTITUTE,
7E, SWAMI RAMTIRTH NAGAR,
NEW DELHI-110055.

दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली-११००५५ के लिये पी० परमेश्वरन (निदेशक, दी० शो०सं०) द्वारा सम्पादित, प्रकाशित व मुद्रित । सरस्वती प्रेस, देशबन्धु गुप्त मार्ग, नयी दिल्ली-११००५५ में मुद्रित ।